

## Chapter नौ

# श्रीभगवान् के वचन का उद्धरण देते हुए प्रश्नों के उत्तर

श्री-शुक उवाच

आत्म-मायामृते राजन् परस्यानुभवात्मनः ।

न घटेतार्थ-सम्बन्धः स्वप्न-द्रष्टुरिवाञ्जसा ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; आत्म—भगवान्; मायाम्—शक्ति; ऋते—बिना; राजन्—हे राजा; परस्य—शुद्ध आत्मा का; अनुभव-आत्मनः—विशुद्ध रूप से चेतन का; न—कभी नहीं; घटेत—इस प्रकार घटित होता है; अर्थ—अभिप्राय; सम्बन्धः—भौतिक शरीर के साथ सम्बन्ध; स्वप्न—सपना; द्रष्टुः—देखने वाले का; इव—सदृश; अञ्जसा—पूर्णतः ।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन्, जब तक मनुष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शक्ति से प्रभावित नहीं होता तब तक भौतिक शरीर के साथ शुद्ध चेतना में शुद्ध आत्मा के सम्बन्ध कोई अर्थ नहीं होता। ऐसा सम्बन्ध स्वप्न देखने वाले द्वारा अपने ही शरीर को कार्य करते हुए देखने के समान है।

तात्पर्य : महाराज परीक्षित के इस प्रश्न का कि भौतिक देह तथा मन से पृथक् होते हुए भी जीवात्मा ने किस प्रकार भौतिक जीवन प्रारम्भ किया, यहाँ पर सही-सही उत्तर दिया गया है। आत्मा जीवन के भौतिक बोध से पृथक् हैं, किन्तु भगवान् की बहिरंगा शक्ति, जिसे *आत्ममाया* कहते हैं, उसके द्वारा प्रभावित होने से वह ऐसे भौतिक बोध में लीन रहता है। इसकी व्याख्या प्रथम अध्याय में व्यासदेव द्वारा भगवान् के साक्षात्कार तथा उनकी बहिरंगा शक्ति के प्रसंग में पहले की जा चुकी है। बहिरंगा शक्ति का नियंत्रण भगवान् द्वारा होता है और जीवात्माएँ, भगवान् की इच्छा द्वारा, इस बहिरंगा शक्ति से नियंत्रित होती हैं। अतः अपनी शुद्ध अवस्था में यद्यपि जीवात्मा नितान्त सचेत रहता है, किन्तु भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा प्रभावित होने से वह भगवान् की इच्छा के अधीन रहता है। *भगवद्गीता* (१५.१५) में भी इस तथ्य की पुष्टि की गई है। भगवान् प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में स्थित हैं और जीवात्मा की सारी चेतना तथा विस्मृति भगवान् द्वारा प्रभावित है।

अब जो दूसरा प्रश्न उठता है, वह यह है कि भगवान् जीवात्मा की चेतना तथा विस्मृति को इस

प्रकार क्यों प्रभावित करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि भगवान् की यह इच्छा है कि प्रत्येक जीवात्मा भगवान् के अंश रूप शुद्ध चेतना में रहे और भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा रहे, क्योंकि वह स्वभावतः इसीलिए बना है। किन्तु जीवात्मा अंशतः स्वतन्त्र भी है, अतः वह भगवान् की सेवा करना नहीं भी चाह सकता और भगवान् की ही तरह स्वतन्त्र रहने का प्रयास कर सकता है। समस्त अभक्त जीवात्माएँ भगवान् के ही समान शक्तिमान बनना चाहती हैं, यद्यपि वे इस योग्य नहीं हैं। भगवान् की इच्छा से वे मोहग्रस्त रहती हैं, क्योंकि वे उनके समान बनना चाहती हैं। जैसे कोई व्यक्ति आवश्यक पात्रता के बिना राजा बनना चाहे, उसी प्रकार जब जीवात्मा स्वयं भगवान् बनना चाहता है, तो वह स्वप्नावस्था को प्राप्त होता है, जिसमें वह अपने को राजा मानता है। अतः जीवात्मा की पहली पापपूर्ण इच्छा है कि वह भगवान् बन जाय; फलस्वरूप भगवान् की इच्छा होती है कि जीवात्मा अपने वास्तविक जीवन को भूलकर स्वप्नलोक में विचरण करने लगे जहाँ वह अपने को भगवान् के तुल्य माने। बालक अपनी माता से चाँद लाने के लिए हठ करता है और माता उसका रोना बन्द कराने के लिए, उसे दर्पण दे देती है, जिससे वह चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को देख सके। अतः भगवान् अपने रोते बालक को भौतिक जगत रूपी प्रतिबिम्ब प्रदान करते हैं जिस पर कर्मी के रूप में वह निजत्व दिखाता है और ऊब कर इसका परित्याग करके ईश्वर के साथ एकाकार होना चाहता है। ये दोनों ही अवस्थाएँ स्वप्निल मोह हैं। इसे जानने के लिए इतिहास को खोजने की आवश्यकता नहीं कि जीवात्मा ने सबसे पहले कब ऐसी इच्छा की। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि ज्योंही उसने ऐसी इच्छा की, वह भगवान् के निर्देशन में माया के वशीभूत कर दिया गया। अतः भौतिक अवस्था में जीवात्मा झूठा स्वप्न देखता है कि यह “मैं हूँ” और यह “मेरा है।” बद्धजीव स्वप्नवश अपने भौतिक शरीर को “मैं” सोचता है अथवा अपने को झूठे ही भगवान् मानने लगता है और इस भौतिक शरीर से जो भी सम्बन्धित है, वह ‘मेरा’ है। इस तरह ‘मैं’ तथा ‘मेरा’ की भ्रान्त धारणा जन्म-जन्मान्तर तक केवल स्वप्न में ही बनी रहती है। जब तक जीवात्मा अपने को भगवान् का पराधीन अंश नहीं मानता तब तक जन्म-जन्मान्तर ऐसा ही बना रहता है।

किन्तु शुद्ध चेतना में ऐसा भ्रान्त धारणा युक्त स्वप्न नहीं रहता और जीवात्मा यह नहीं भूलता कि

वह कभी भगवान् नहीं बन सकता प्रत्युत वह तो दिव्य प्रेममय अवस्था में उनका शाश्वत सेवक है।

**बहु-रूप इवाभाति मायया बहु-रूपया ।**

**रममाणो गुणेष्वस्या ममाहमिति मन्यते ॥ २ ॥**

**शब्दार्थ**

बहु-रूपः—विविधरूप वाली; इव—मानो; आभाति—प्रकट होती है; मायया—बहिरंगा शक्ति के प्रभाव से; बहु-रूपया—विविध रूपों में; रममाणः—मानो रमण ( भोग ) कर रहा हो; गुणेषु—विभिन्न गुणों में; अस्याः—बहिरंगा शक्ति का; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; मन्यते—सोचता है।

मोहग्रस्त जीवात्मा भगवान् की बहिरंगा शक्ति के द्वारा प्रदत्त अनेक रूप धारण करता है।

जब बद्ध जीवात्मा भौतिक प्रकृति के गुणों में रम जाता है, तो वह भूल से सोचने लगता है कि यह “मैं हूँ” और यह “मेरा” है।

**तात्पर्य :** जीवात्माओं के विभिन्न रूप भगवान् की मोहमयी बहिरंगा शक्ति द्वारा प्रदत्त विभिन्न प्रकार के वस्त्र हैं, जो जीवात्मा के द्वारा भोगे जाने वाले वांछित गुणों के अनुसार होते हैं। बहिरंगा भौतिक शक्ति तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुण—द्वारा प्रकट होती है। इस प्रकार प्रकृति में भी, जीवात्मा के लिए चुनाव करने की स्वतन्त्रता रहती है और उसके चुनाव के ही अनुसार बहिरंगा शक्ति उसे विभिन्न प्रकार के शरीर प्रदान करती है। इस तरह ९ लाख प्रकार के जल जीव, २० लाख वनस्पति जीव, ११ लाख कीड़े-मकोड़े तथा सरीसृप, १० लाख पक्षी, ३० लाख विभिन्न जंगली पशु तथा ४ लाख मनुष्य रूप पाये जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों में ८४,००,००० प्रकार के जीव (योनियाँ) पाये जाते हैं और जीवात्मा अपने भीतर विभिन्न गुणों में रमने वाले आत्मा के अनुसार अनेक देहान्तरों द्वारा घूमता रहता है। यहाँ तक कि एक ही शरीर में जीवात्मा बालपन से लड़कपन और लड़कपन से युवावस्था, फिर युवावस्था से बुढ़ापा और बुढ़ापे से अपने कर्म के अनुसार अन्य शरीर में परिवर्तित होता है। जीवात्मा अपनी निजी इच्छा से शरीर कल्पित करता है और बहिरंगा शक्ति उसे वह रूप प्रदान करती है, जिसका वह पूरी तरह से भोग कर सके। चीते की इच्छा अन्य पशु का रक्तपान करने की थी, अतः बहिरंगा शक्ति ने उसे सुविधासम्पन्न चीते का शरीर प्रदान किया जिससे वह अन्य पशुओं का रक्तपान कर सके। इस प्रकार जो जीवात्मा उच्च लोक में देवता का शरीर पाना चाहता है उसे ईश्वर की कृपा से वैसा शरीर मिल सकता है और यदि वह बुद्धिमान है, तो भगवान् के साहचर्य के लिए

आध्यात्मिक शरीर पाने की इच्छा कर सकता है और उसे वह प्राप्त हो जाता है। अतः जीवात्मा को जो थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त है उसका उपयोग पूर्णरूपेण किया जा सकता है और ईश्वर इतने दयालु हैं कि वह मनुष्य को इच्छित शरीर प्रदान करते हैं। जीवात्मा की इच्छापूर्ति सुनहले पर्वत का स्वप्न देखने के समान है। मनुष्य जानता है कि पर्वत क्या है और वह यह भी जानता है कि स्वर्ण क्या होता है। किन्तु मात्र इच्छावश वह सुनहले पर्वत का सपना देखता है और जब सपना टूटता है, तो अपने सामने कुछ और ही पाता है। उसके समक्ष न तो सोना होता है, न पर्वत; सुनहले पर्वत की बात तो कोसों दूर रह जाती है।

भौतिक जगत में जीवात्माओं की विभिन्न स्थितियाँ विविध शारीरिक रूप में “मैं” तथा ‘मेरा’ भ्रान्त धारणाओं के कारण हैं। कर्मी इस जगत को ‘मेरा’ रूप में सोचता है और ज्ञानी सोचता है “मैं” ही सब कुछ हूँ। राजनीति, समाजविज्ञान, परोपकार, परार्थवाद आदि की सारी धारणा बद्धजीवों की इसी ‘मैं’ तथा ‘मेरी’ की भ्रान्त धारणा पर आधारित है, जो भौतिक जीवन के भोग की प्रबल इच्छा से जन्य है। समाजवाद, राष्ट्रवाद, पारिवारिक प्रेम आदि विभिन्न विचारधाराओं के अन्तर्गत शरीर और शरीर के जन्मस्थान से आत्मा का सम्बन्ध मानना जीवात्मा द्वारा असली स्वभाव के भूल जाने के कारण है। मोहग्रस्त जीवात्मा की यह सारी भ्रान्त धारणा शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित की संगति करके ही दूर की जा सकती है, जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है।

यर्हि वाव महिम्नि स्वे परस्मिन् काल-माययोः ।

रमेत गत-सम्मोहस्त्यक्त्वोदास्ते तदोभयम् ॥ ३ ॥

**शब्दार्थ**

यर्हि—किसी समय; वाव—निश्चय ही; महिम्नि—महिमा में; स्वे—अपने आप का; परस्मिन्—परमेश्वर में; काल—समय; माययोः—भौतिक शक्ति ( माया ) का; रमेत—भोग करता है; गत-सम्मोहः—भ्रान्त धारणा ( सम्मोह ) से मुक्त होकर; त्यक्त्वा—त्याग कर; उदास्ते—पूर्णतः; तदा—तब; उभयम्—दोनों ( मैं तथा मेरे की भ्रान्त धारणा )।

जैसे ही जीवात्मा अपनी स्वाभाविक महिमा में स्थित हो जाता है और काल तथा माया से गुणातीत हो जाता है, वैसे ही वह जीवन की दोनों भ्रान्त धारणाओं ( मैं तथा मेरा ) को त्याग देता है और शुद्ध आत्मस्वरूप में प्रकट हो जाता है।

तात्पर्य : ‘मैं’ तथा ‘मेरा’, जीवन के ये दो भाव दो श्रेणियों के मनुष्यों में प्रकट होते हैं। निम्न

अवस्था में 'मेरा' भाव प्रमुख रहता है और उच्चतर अवस्था में 'मैं' का भाव। पशुओं में 'मेरा' भाव कुत्तों तथा बिल्लियों तक में देखा जा सकता है, जो इसी 'मेरा' भाव की भ्रान्ति के अन्तर्गत परस्पर लड़ते रहते हैं। मानव जीवन की निम्न अवस्था में भी यही भाव, 'यह मेरा शरीर है', 'यह मेरा परिवार है', 'यह मेरी जाति है', 'यह मेरा राष्ट्र है', 'यह मेरा देश है' इत्यादि रूपों में उभरता है। चिन्तन की उच्च अवस्था में यही 'मेरा' की भ्रान्त धारणा 'मैं हूँ' अथवा 'मैं ही सब कुछ हूँ' रूप में बदल जाती है। मनुष्यों की नाना श्रेणियाँ हैं, जो 'मैं' और 'मेरे' को विभिन्न रूपों में ग्रहण करती हैं। किन्तु 'मैं' की वास्तविक महत्ता का बोध तभी होता है जब मनुष्य की चेतना हो कि मैं "भगवान् का शाश्वत दास हूँ"। यही शुद्ध चेतना है और सारा वैदिक साहित्य हमें जीवन के इसी भाव की शिक्षा देता है।

मैं भगवान् हूँ" या "मैं परब्रह्म हूँ" की भ्रान्त धारणा 'मेरे' की धारणा से भी अधिक घातक है। यद्यपि वैदिक साहित्य में कहीं-कहीं ऐसे निर्देश हैं कि मनुष्य अपने को भगवान् के समरूप समझे, किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि वह सभी प्रकार से भगवान् के ही समान हो जाता है। निस्सन्देह, अनेक बातों में जीवात्मा तथा भगवान् में एकरूपता है, किन्तु जीवात्मा अन्ततः भगवान् के अधीन होता है और स्वाभाविक दृष्टि से वह भगवान् की इन्द्रियों की तुष्टि के निमित्त बना है। इसीलिए भगवान् बद्धजीव को अपनी शरण में बुलाते हैं; यदि जीवात्माएँ परम इच्छा के अधीन न होतीं, तो उन्हें शरण में आने के लिए क्यों कहा जाता? यदि जीव सभी प्रकार से ईश्वर के समकक्ष होता, तो फिर वह माया के अधीन क्यों रखा गया है? हम इसकी व्याख्या कई बार कर चुके हैं कि भौतिक शक्ति (माया) भगवान् के द्वारा नियन्त्रित है। *भगवद्गीता* (९.१०) में माया के ऊपर भगवान् की नियामक शक्ति की पुष्टि की गई है। क्या कोई जीवात्मा जो अपने को परमेश्वर के समकक्ष मानता है, माया को वश में कर सकता है? मूर्ख 'मैं' जवाब देगा कि भविष्य में वह कर सकता है। यदि यह मान लिया जाय कि भविष्य में वह ऐसा कर सकेगा तो फिर वह अभी माया के वश में क्यों है? *भगवद्गीता* का कथन है कि परमेश्वर की शरण में जा करके मनुष्य माया के वश से मुक्त हो सकता है, किन्तु यदि वह समर्पण नहीं करता, तो फिर जीवात्मा माया से कभी भी पार नहीं पा सकता। अतः मनुष्य को चाहिए कि भक्ति के अभ्यास से अथवा भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में दृढ़ता से स्थित रहकर 'मैं' की भ्रान्ति

को त्यागे। बिना किसी काम-धंदे या नौकरी के गरीब मनुष्य जीवन में अनेक कष्ट भोगता रहता है, किन्तु सौभाग्यवश यदि उसे सरकारी नौकरी मिल जाती है, तो वह तुरन्त सुखी हो जाता है। सभी शक्तियों के नियामक भगवान् की श्रेष्ठता को अस्वीकार करने में कोई लाभ नहीं। किन्तु मनुष्य को चाहिए वह अपने को भगवान् का शाश्वत दास मानते हुए अपनी स्वाभाविक महिमा को प्राप्त करे। बद्धजीवन में जीवात्मा माया का दास रहता है, किन्तु मुक्त अवस्था में वह भगवान् का शुद्ध अकिंचन दास रहता है। भगवान् की सेवा करने के लिए आवश्यक है कि प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहा जाय। जब तक मनुष्य मनोरथों का दास है, वह “मैं” तथा ‘मेरा’ के रोग से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो सकता।

परम सत्य माया की शक्ति के द्वारा दूषित नहीं होता, क्योंकि वही उस शक्ति का नियन्ता है। आपेक्षिक सत्य माया से आवृत हो सकते हैं किन्तु जब कोई परम सत्य का साक्षात्कार कर रहा होता है, तो सर्वोत्तम उद्देश्य की पूर्ति होती है, जिस तरह सूर्य को समक्ष देखने पर। सिर के ऊपर आकाश में सूर्य प्रकाश से पूर्ण रहता है, किन्तु जब वह दृश्य आकाश में नहीं दिखता तो अंधकार छा जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य परमेश्वर के समक्ष होता है, तो उसके सारे मोह नष्ट हो जाते हैं और जो उनके समक्ष नहीं होता वह माया के अन्धकार में रहता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में इस प्रकार हुई है—

*मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।*

*स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥*

अतः मनुष्य को चाहिए कि निष्ठापूर्वक भगवान् का पूजन, भगवान् की महिमा का गायन, सुपात्र से (न कि पेशेवर मनुष्य से प्रत्युत किसी ‘*भागवत*’ व्यक्ति से) *श्रीमद्भागवत* का श्रवण तथा शुद्ध भक्तों की संगति करके—इस प्रकार भक्तियोग के विज्ञान को गंभीरता से ग्रहण करे। उसे “मैं” या “मेरा” की भ्रान्तियों से गुमराह नहीं होना चाहिए। कर्मियों को “मेरा” भाव प्रिय है, तो ज्ञानियों को “मैं” भाव और ये दोनों ही माया के बन्धन से मुक्त होने के योग्य नहीं हैं। *श्रीमद्भागवत* तथा मुख्यतः *भागवद्गीता* ये दोनों मनुष्य को “मैं” तथा “मेरा” की भ्रान्ति से उबारने के लिए हैं और श्रील

व्यासदेव ने इन दोनों को पतित आत्माओं की मुक्ति के लिए ही लिखा है। जीवात्मा को ऐसी दिव्य स्थिति में रहना चाहिए जहाँ काल तथा माया का वश न चले। बद्धजीवन में जीवात्मा को भूत, वर्तमान तथा भविष्य काल के सपनों द्वारा प्रभावित होना पड़ता है। चिन्तक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा तथा अहंकार को जीत करके भविष्य चिन्तन द्वारा वासुदेव या परमेश्वर बनकर काल पर विजय पाना चाहता है। किन्तु यह विधि परिपूर्ण नहीं है। सही विधि तो यह है कि भगवान् वासुदेव को हर प्रकार से परमेश्वर मान लिया जाय और ज्ञान के अनुशीलन की परम सिद्धि यह है कि भगवान् की शरण में जाया जाय, क्योंकि वे ही हर वस्तु के स्रोत हैं। केवल इसी भाव में “मैं” तथा “मेरा” की भ्रान्ति से छुटकारा मिल सकता है। *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* दोनों ही इसकी पुष्टि करते हैं। श्रील व्यासदेव ने अपने महान् ग्रन्थ *श्रीमद्भागवत* द्वारा मोहग्रस्त जीवात्माओं के लिए *आत्मतत्त्व* तथा भक्तियोग विधि में विशिष्ट योगदान किया है। बद्धजीव को चाहिए कि वह इस महान् ज्ञान का पूरा-पूरा लाभ उठाए।

**आत्म-तत्त्व-विशुद्ध्यर्थं यदाह भगवानृतम् ।**

**ब्रह्मणे दर्शयन् रूपमव्यलीक-व्रतादतः ॥ ४ ॥**

**शब्दार्थ**

आत्म-तत्त्व—ईश्वर का ज्ञान अथवा जीवात्मा का ज्ञान; विशुद्धि—शुद्धीकरण; अर्थम्—लक्ष्य; यत्—जो; आह—कहा; भगवान्—भगवान् ने; ऋतम्—सचमुच; ब्रह्मणे—ब्रह्माजी को; दर्शयन्—दिखलाकर; रूपम्—नित्य रूप; अव्यलीक—निष्कपट भाव से; व्रत—संकल्प; आदतः—पूजित।

हे राजन्, भगवान् ने ब्रह्माजी की भक्तियोग की निष्कपट तपस्या से अत्यन्त प्रसन्न होकर उनके समक्ष अपना शाश्वत दिव्य रूप प्रकट किया और बद्धजीव की शुद्धि के लिए यही परम लक्ष्य भी है।

**तात्पर्य :** *आत्म-तत्त्व* ईश्वर तथा जीवात्मा दोनों ही का विज्ञान है। परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों ही आत्मा कहलाते हैं। परमेश्वर परमात्मा कहलाते हैं और जीवात्मा *आत्मा*, *ब्रह्म* या *जीव* कहलाता है। परमात्मा तथा जीव भौतिक शक्ति (माया) से परे होने के कारण आत्मा कहलाते हैं। अतः शुकदेव गोस्वामी ने इस श्लोक की व्याख्या परमात्मा तथा जीवात्मा दोनों के सत्य की शुद्धि के उद्देश्य से की है। साधारणतया, लोगों की इन दोनों के बारे में बहुत सी मिथ्या धारणाएँ हैं। जीवात्मा की भ्रान्त धारणा भौतिक शरीर को शुद्ध आत्मा के रूप में पहचानना है और परमात्मा के बारे में भ्रान्त धारणा उसे

जीवात्मा के समकक्ष मानना है। किन्तु ये दोनों भ्रान्तियाँ भक्तियोग के एक ही प्रहार से ध्वस्त हो सकती हैं जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में सूर्य तथा सूर्य प्रकाश के नीचे का सारा लोक दिखाई पड़ने लगता है। अन्धकार में न तो कोई सूर्य को देख पाता है, न अपने आपको और न ही जगत को, किन्तु सूर्य के प्रकाश में वह सूर्य को, अपने आपको तथा अपने चारों ओर के जगत को देख सकता है। अतः श्रील शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि इन दोनों भ्रान्तियों को हटाने के लिए भगवान् ने ब्रह्मा के भक्तियोग के निष्कपट प्रण से प्रसन्न होकर उन्हें अपने शाश्वतरूप का दर्शन दिया। भक्तियोग के अतिरिक्त आत्म-तत्त्व को जानने की कोई भी विधि अन्ततः भ्रम सिद्ध होगी।

*भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि केवल भक्तियोग के द्वारा उन्हें पूर्ण रूप से जाना जा सकता है और तब आत्म-तत्त्व में प्रवेश सम्भव है। भक्तियोग सम्पन्न करने में ब्रह्माजी ने कठिन तपस्या की थी, अतः वे भगवान् के दिव्य रूप को देख पाये। उनका दिव्य रूप शत-प्रतिशत आध्यात्मिक है और शुद्ध भक्तियोग में समुचित तपस्या के बाद दिव्य दृष्टि से ही उनका दर्शन किया जा सकता है। ब्रह्मा के समक्ष जो रूप प्रकट हुआ था वह इस भौतिक संसार में हमारे द्वारा अनुभव किया जाने वाला रूप नहीं था। ब्रह्माजी ने उतनी कठिन तपस्या ऐसे भौतिक रूप के साक्षात्कार के लिए नहीं की थी। अतः महाराज परीक्षित द्वारा पूछे गये प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। भगवान् सच्चिदानन्द स्वरूप अर्थात् शाश्वत ज्ञान से परिपूर्ण और आनन्द से परिपूर्ण हैं। किन्तु जीवात्मा का भौतिक रूप न तो सत् है, न चित् और न आनन्द ही। यही भगवान् के रूप तथा बद्धजीव के रूपों में अन्तर है। किन्तु बद्धजीव अपना चिदानन्द रूप भक्तियोग द्वारा भगवान् का दर्शन करके पुनः प्राप्त कर सकता है।

सारांश यह है कि अविद्या के कारण बद्धजीव अनेक प्रकार के नश्वर भौतिक रूपों में जकड़ा रहता है। किन्तु भगवान् के बद्धात्माओं जैसे नश्वर रूप नहीं होते। वे सदैव चिदानन्द रूप में रहते हैं; यही जीवात्मा तथा परमात्मा में अन्तर है। भक्तियोग के द्वारा इस अन्तर को समझा जा सकता है। तब भगवान् ने ब्रह्मा को चार मूल श्लोकों में *श्रीमद्भागवत* का सार कह सुनाया। इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* चिन्तकों की सृष्टि नहीं है। *श्रीमद्भागवत* की ध्वनि दिव्य है और इसकी अनुगूँज वेदों के ही समान है। इस प्रकार *श्रीमद्भागवत* की कथा भगवान् तथा जीवात्मा दोनों के ज्ञानस्वरूप है। *श्रीमद्भागवत* का



नियमित पाठ करना या उसका श्रवण करना भी भक्तियोग की साधना है और श्रीमद्भागवत की संगति मात्र से बड़ी-से-बड़ी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। शुकदेव गोस्वामी तथा महाराज परीक्षित दोनों ने श्रीमद्भागवत के माध्यम से सिद्धि प्राप्त की।

स आदि-देवो जगतां परो गुरुः  
स्वधिष्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत ।  
तां नाध्यगच्छद् दृशमत्र सम्मतां  
प्रपञ्च-निर्माण-विधिर्यया भवेत् ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

सः—वह; आदि-देवः—प्रथम देवता; जगताम्—ब्रह्माण्ड का; परः—परम; गुरुः—गुरु; स्वधिष्यम्—अपने कमल-आसन का; आस्थाय—स्रोत जानने के लिए; सिसृक्षया—सांसारिक व्यापार की सृष्टि करने के लिए; ऐक्षत—सोचने लगा; ताम्—उस विषय में; न—नहीं; नाध्यगच्छत्—समझ सका; दृशम्—दिशा; अत्र—वहाँ; सम्मताम्—उचित राह; प्रपञ्च—भौतिक; निर्माण—रचना; विधिः—विधि, ढंग; यया—जितना कि; भवेत्—होना चाहिए।

प्रथम गुरु एवं ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ जीव होते हुए भी ब्रह्माजी अपने कमल आसन के स्रोत का पता न लगा सके और जब उन्होंने भौतिक जगत की सृष्टि करनी चाही तो वे यह भी न जान पाये कि किस दिशा से यह कार्य प्रारम्भ किया जाय, न ही ऐसी सृष्टि करने के लिए कोई विधि ही ढूँढ पाये।

तात्पर्य : यह श्लोक भगवान् के रूप तथा धाम की दिव्य प्रकृति की व्याख्या की प्रस्तावना है। श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में यह कहा जा चुका है कि परमेश्वर अपने धाम में वंचक शक्ति के सम्पर्क में आये बिना रहते हैं। अतः भगवान् का धाम कल्पना न होकर एक भिन्न दिव्य लोकों का क्षेत्र है, जिसे वैकुण्ठ कहते हैं। इस अध्याय में इसकी भी व्याख्या की जाएगी।

इस भौतिक आकाश से बहुत ऊपर परव्योम का ज्ञान तथा उसकी सारी सामग्री की जानकारी भक्तियोग के द्वारा सम्भव है। ब्रह्माजी ने भक्तियोग के बल पर ही सृष्टि करने की शक्ति प्राप्त की थी। सृष्टि करते समय ब्रह्माजी भ्रमित हो गये थे और वे अपनी स्थिति तक का पता नहीं लगा पा रहे थे, किन्तु उन्हें यह सारा ज्ञान भक्तियोग के द्वारा ही प्राप्त हो सका। भक्तियोग से ईश्वर को जाना जा सकता है और ईश्वर को सर्वोच्च मान कर शेष सब कुछ जाना जा सकता है। जो परमेश्वर को जानता है, वह सब कुछ जानता है। यही समस्त वेदों का कथन है। इस ब्रह्माण्ड के आदि गुरु ब्रह्मा को भी भगवान्

की कृपा से प्रकाश प्राप्त हुआ था; तो ऐसा और कौन होगा जो उनकी कृपा के बिना सब कुछ जान सके? जो हर एक विषय की पूर्ण जानकारी प्राप्त करना चाहता है उसे चाहिए कि भगवत्कृपा प्राप्त करे; इसके अलावा कोई दूसरा उपाय नहीं है। अपने निजी बल पर ज्ञान की खोज करने का प्रयास समय का अपव्यय होगा।

स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाम्भ-

स्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः ।

स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं

निष्किञ्चनानां नृप यद् धनं विदुः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; चिन्तयन्—सोचते हुए; द्वि—दो; अक्षरम्—अक्षर; एकदा—एक बार; अम्भसि—जल में; उपाशृणोत्—पास ही सुना; द्विः—दो बार; गदितम्—उच्चरित; वचः—शब्द; विभुः—महान्; स्पर्शेषु—स्पर्शाक्षर; यत्—जो; षोडशम्—सोलहवाँ; एकविंशम्—तथा इक्कीसवाँ; निष्किञ्चनानाम्—संन्यासियों का; नृप—हे राजा; यत्—जो हैं; धनम्—सम्पत्ति; विदुः—जैसाकि ज्ञात है।

इस प्रकार जब जल में स्थित ब्रह्माजी सोच रहे थे तब पास ही उन्होंने परस्पर जुड़े हुए दो शब्द दो बार सुने। इनमें से एक सोलहवाँ और दूसरा इक्कीसवाँ स्पर्श अक्षर था। ये दोनों मिलकर विरक्त जीवन की निधि बन गए।

तात्पर्य : संस्कृत भाषा में व्यञ्जन शब्दों के दो विभाग हैं—स्पर्श वर्ण तथा तालव्य वर्ण। क से लेकर म तक के अक्षर स्पर्श वर्ण कहलाते हैं और इस समूह का सोलहवाँ अक्षर त है, जबकि इक्कीसवाँ अक्षर प है। अतः जब वे दोनों मिल जाते हैं, तो तप शब्द अर्थात् तपस्या बनता है। यह तप ब्राह्मणों तथा तपस्वियों का सौंदर्य तथा धन है। भागवत दर्शन के अनुसार, प्रत्येक मनुष्य तप के निमित्त बना है और किसी निमित्त नहीं, क्योंकि एकमात्र तपस्या के द्वारा उसे आत्मबोध हो सकता है। मानव जीवन का धर्म इन्द्रियतृप्ति नहीं, अपितु आत्म-साक्षात्कार है। यह तप सृष्टि के आदि काल से ही चला आ रहा है और सर्वप्रथम परमगुरु ब्रह्माजी ने इसे ग्रहण किया था। तपस्या के ही द्वारा मनुष्य को मानव जीवन का लाभ प्राप्त हो सकता है, पशु जीवन की दिखलावटी सभ्यता से नहीं। पशु खाने, पीने तथा मजा उड़ाने द्वारा इन्द्रियतृप्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानता, किन्तु मनुष्य का जन्म तपस्या करके भगवान् के धाम वापस जाने के लिए हुआ है।

जब ब्रह्माजी की समझ में नहीं आ रहा था कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि किस प्रकार की जाय तो वे कमल-आसन के स्रोत का तथा सृष्टि के साधन का पता लगाने के लिए जल के भीतर गये जहाँ उन्होंने तप शब्द की दो बार गूँज सुनी। तप के पथ को ग्रहण करना जिज्ञासु का मानो दूसरा जन्म हो। यहाँ पर उपाश्रुणोत् शब्द अत्यन्त सार्थक है। यह उपनयन के समान है, अर्थात् तप के मार्ग पर शिष्य को गुरु के समीप लाने के समान है। अतः ब्रह्माजी को श्रीकृष्ण ने दीक्षा दी और इसकी पुष्टि स्वयं ब्रह्माजी ने अपनी कृति ब्रह्म-संहिता में की है। ब्रह्म-संहिता में प्रत्येक श्लोक में ब्रह्माजी ने गोविन्दमादि-पुरुषं तमहं भजामि स्तुति की है। इस तरह श्रीकृष्ण ने कृष्ण महामन्त्र द्वारा ब्रह्मा को दीक्षा दी जिससे विशाल ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने के पूर्व वे वैष्णव अर्थात् भगवान् के भक्त हो सके। ब्रह्म-संहिता में उल्लेख है कि ब्रह्माजी को अठारह अक्षर वाले कृष्ण मन्त्र में दीक्षित किया गया जिसे प्रायः कृष्ण के समस्त भक्त स्वीकार करते हैं। हम उसी सिद्धान्त का पालन करते हैं, क्योंकि हमारा ब्रह्म सम्प्रदाय से सम्बन्ध है, जो सीधे ब्रह्मा से नारद, नारद से व्यास, व्यास से मध्वमुनि, मध्वमुनि से माधवेन्द्र पुरी तथा माधवेन्द्र पुरी से ईश्वर पुरी, ईश्वर पुरी से भगवान् चैतन्य और क्रमशः हमारे गुरु भगवत्कृपामूर्ति भक्तिसिद्धान्त सरस्वती की शिष्य-परम्परा में है।

इस प्रकार जो मनुष्य शिष्य-परम्परा में दीक्षित होता है उसे वैसा ही फल या सृष्टि करने की शक्ति प्राप्त होती है। कामनारहित भगवद्भक्त के लिए इस पवित्र मन्त्र का जप ही एकमात्र आसरा है। केवल ऐसी तपस्या से भगवद्भक्त ब्रह्माजी के समान सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है।

निशम्य तद्वक्तृ-दिदक्षया दिशो

विलोक्य तत्रान्यदपश्यमानः ।

स्वधिष्यमास्थाय विमृश्य तद्धितं

तपस्युपादिष्ट इवादधे मनः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

निशम्य—सुनकर; तत्—उस; वक्तृ—वक्ता; दिदक्षया—यह जानने के लिए कि कौन बोला; दिशः—सभी ओर; विलोक्य—देखकर; तत्र—वहाँ; अन्यत्—अन्य कोई; अपश्यमानः—न पाकर; स्वधिष्यम्—अपने कमल आसन पर; आस्थाय—बैठ गये; विमृश्य—सोचकर; तत्—इसको; हितम्—कल्याण; तपसि—तपस्या में; उपादिष्टः—उसे जैसा आदेश मिला था; इव—के पालन में; आदधे—दिया; मनः—ध्यान।

जब उन्होंने वह ध्वनि सुनी तो वे ध्वनिकर्ता को चारों ओर ढूँढ़ने का प्रयत्न करने लगे।

किन्तु जब वे अपने अतिरिक्त किसी को न पा सके, तो उन्होंने कमल-आसन पर दृढ़तापूर्वक बैठ जाना और आदेशानुसार तपस्या करने में ध्यान देना ही श्रेयस्कर समझा।

**तात्पर्य :** जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए ब्रह्माजी के उदाहरण का अनुसरण करना चाहिए, क्योंकि वे सृष्टि के आदि-प्राणी हैं। परमेश्वर द्वारा तपस्या में दीक्षित किये जाने पर उन्होंने तपस्या करने का संकल्प किया और अपने चारों ओर अपने सिवा अन्य किसी को न पाकर वे ठीक ही समझ सके कि वह ध्वनि स्वयं भगवान् ने की थी। उस समय ब्रह्मा बिल्कुल अकेले थे, क्योंकि तब कोई सृष्टि नहीं हुई थी और न उनके अतिरिक्त वहाँ अन्य कोई था। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक में ब्रह्मा को श्रीभगवान् ने अन्तःकरण से ही दीक्षा दी थी। भगवान् प्रत्येक जीवात्मा के भीतर परमात्मा के रूप में स्थित हैं और उन्होंने ब्रह्मा को इसलिए दीक्षित किया क्योंकि वे दीक्षा लेने के लिए इच्छुक थे। इसी प्रकार जो भी दीक्षा लेने का इच्छुक हो उसे भगवान् दीक्षा दे सकते हैं।

जैसाकि बताया जा चुका है ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के आदि गुरु हैं और चूँकि स्वयं भगवान् ने उन्हें दीक्षा दी थी अतः *श्रीमद्भागवत* की कथा शिष्य-परम्परा से चली आ रही है, इसीलिए *श्रीमद्भागवत* की वास्तविक कथा (संदेश) प्राप्त करने के लिए, मनुष्य को चाहिए कि शिष्य-परम्परा से चले आ रहे गुरु के पास जाए। फिर उस परम्परा में योग्य गुरु से दीक्षित होकर उसे भक्ति करने के लिए तपस्या में रत हो जाना चाहिए। किन्तु उसे अपने आपको ब्रह्मा के समान समझ कर सीधे भगवान् द्वारा अन्तःकरण से दीक्षा दिये जाने की बात नहीं सोचनी चाहिए, क्योंकि इस युग में कोई भी व्यक्ति ब्रह्मा के समान शुद्ध नहीं माना जा सकता। ब्रह्माण्ड-सृष्टि के लिए ब्रह्मा-पद का भार सर्वाधिक शुद्ध जीव को सौंपा जाता है और जब तक वह उतना ही योग्य न हो, उसे ब्रह्मा के समान नहीं माना जा सकता। किन्तु उसे वैसी ही सुविधाएँ भगवान् के शुद्ध भक्तों द्वारा, शास्त्रों के आदेशों द्वारा (जैसाकि विशेष रूप से *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में प्रकट हैं) तथा प्रामाणिक गुरु द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। जो मनुष्य हृदय से भगवान् की सेवा में निष्ठा रखता है, उसके समक्ष भगवान् स्वयं गुरु रूप में प्रकट होते हैं। अतः उस प्रामाणिक गुरु को, जो दैववश निष्ठावान शिष्य को प्राप्त होता है, भगवान् का सबसे

विश्वासपात्र तथा प्रिय प्रतिनिधि मानना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति ऐसे प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में रहता है, तो यह निस्सन्देह समझना चाहिए कि उसे भगवत्कृपा प्राप्त हो गई है।

दिव्यं सहस्राब्दममोघ-दर्शनो

जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः ।

अतप्यत स्माखिल-लोक-तापनं

तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

दिव्यम्—स्वर्ग के देवताओं का; सहस्र—एक हजार; अब्दम्—वर्ष; अमोघ—निर्मल, निष्कलंक; दर्शनः—ऐसी जीवन-दृष्टि वाला; जित—नियंत्रित; अनिल—प्राण; आत्मा—मन; विजित—वशीकृत; उभय—दोनों; इन्द्रियः—इन्द्रियों वाला; अतप्यत—तपस्या की; स्म—भूतकाल में; अखिल—समस्त; लोक—ग्रह; तापनम्—प्रकाशनार्थ; तपः—तपस्या; तपीयान्—अत्यन्त कठिन तप; तपताम्—समस्त तपस्वियों का; समाहितः—इस प्रकार स्थित।

ब्रह्माजी ने देवताओं की गणना के अनुसार एक हजार वर्षों तक तपस्या की। उन्होंने आकाश से यह दिव्य अनुगूँज सुनी और इसे ईश्वरीय मान लिया। इस प्रकार उन्होंने अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश में किया। उन्होंने जो तपस्या की, वह जीवात्माओं के लिए महान् शिक्षा बन गई। इस प्रकार ब्रह्मा जी तपस्वियों में महानतम माने जाते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ने तप की रहस्यमय ध्वनि सुनी, किन्तु वे यह नहीं देख पाये कि इसको कौन उच्चरित कर रहा है। फिर भी उन्होंने इस आदेश को उपयोगी समझ कर स्वीकार कर लिया और वे एक हजार दिव्य वर्षों तक तपस्या करते रहे। एक दिव्य वर्ष हमारे  $6 \times 30 \times 12 \times 1000$  वर्षों के तुल्य होता है। ध्वनि को स्वीकार करने का मूल कारण यह था कि उनमें भगवान् विषयक विशुद्ध दृष्टि थी और इस सही दृष्टि के कारण उन्होंने भगवान् तथा भगवान् के आदेश में कोई अन्तर नहीं माना। भले ही भगवान् स्वयं उपस्थित न हों, किन्तु उनमें तथा उनकी ध्वनि में कोई अन्तर नहीं होता। ईश्वर को जानने की सर्वोत्तम विधि यही है कि ऐसे ईश्वरीय आदेश को शिरोधार्य कर लिया जाय और ब्रह्मा, जो हर एक के आदि गुरु हैं, दिव्य ज्ञान प्राप्त करने की इस विधि के जीते-जागते उदाहरण हैं। दिव्य ध्वनि की शक्ति कभी क्षीण नहीं होती, क्योंकि ध्वनिकर्ता ओझल रहता है। अतः श्रीमद्भागवत या भगवद्गीता या संसार के किसी अन्य शास्त्र को कभी भी दिव्य शक्ति से विहीन सामान्य संसारी ध्वनि (वाणी) नहीं समझना चाहिए।

मनुष्य को इस दिव्य ध्वनि को उपयुक्त स्रोत से प्राप्त करके उसे सत्य मानकर बिना किसी हिचक के आदेश के तौर पर पालन करना होता है। सफलता का रहस्य यही है कि प्रामाणिक गुरु से अर्थात् उपयुक्त स्रोत से ध्वनि ग्रहण की जाय। संसारी कृत्रिम ध्वनि में शक्ति नहीं होती, अतः अप्रामाणिक व्यक्ति से प्राप्त तथाकथित दिव्य ध्वनि में कोई शक्ति नहीं होती। ऐसी दिव्य शक्ति को जान लेने की योग्यता होनी चाहिए और जिसे अपने विवेक से या कि भाग्य से गुरु द्वारा यह दिव्य ध्वनि प्राप्त हो सके, समझिये कि उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया। किन्तु शिष्य को गुरु के आदेश का पालन करने के लिए उद्यत रहना चाहिए जिस प्रकार ब्रह्माजी ने अपने प्रामाणिक गुरु साक्षात् भगवान् के आदेश का पालन किया था। शिष्य का एकमात्र कर्तव्य है कि वह प्रामाणिक गुरु का आदेश माने और प्रामाणिक गुरु के आदेश का पूर्ण श्रद्धा-सहित पालन करना ही सफलता का रहस्य है।

ब्रह्माजी ने अपनी दोनों प्रकार की इन्द्रियों—कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों—पर नियन्त्रण प्राप्त किया, क्योंकि इनका उपयोग भगवान् के आदेश पालन में करना था। अतः इन्द्रियों के नियन्त्रण का अर्थ है उन्हें भगवान् की दिव्य सेवा में लगाना। भगवान् का आदेश तो प्रामाणिक गुरु के माध्यम से शिष्य-परम्परा में अवतरित होता है, अतः प्रामाणिक गुरु के आदेश के पालन का अर्थ है इन्द्रियों को सचमुच नियन्त्रित करना। पूर्ण श्रद्धा तथा निष्ठा के साथ ऐसी तपस्या करके ब्रह्माजी इतने शक्तिसम्पन्न बन सके कि वे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा हो गए। ऐसी शक्ति प्राप्त करने के कारण ही उन्हें तपस्वियों में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है।

तस्मै स्व-लोकं भगवान् सभाजितः

सन्दर्शयामास परं न यत्परम् ।

व्यपेत-सङ्क्लेश-विमोह-साध्वसं

स्व-दृष्टवद्विपुरुषैरभिष्टुतम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उसको; स्व-लोकम्—अपना धाम; भगवान्—भगवान् ने; सभाजितः—ब्रह्मा की तपस्या से प्रसन्न होकर; सन्दर्शयाम् आस—प्रकट किया; परम्—सर्वश्रेष्ठ; न—नहीं; यत्—जिसका; परम्—उससे भी श्रेष्ठ; व्यपेत—पूर्ण रूप से त्यक्त; सङ्क्लेश—पाँच प्रकार के भौतिक ताप; विमोह—बिना मोह; साध्वसम्—संसार का भय; स्व-दृष्ट-वद्विः—जो स्वरूपसिद्ध हैं उनके द्वारा; पुरुषैः—पुरुषों द्वारा; अभिष्टुतम्—पूजित।

श्री भगवान् ने ब्रह्माजी की तपस्या से अत्यधिक प्रसन्न होकर उन्हें समस्त लोकों में श्रेष्ठ

अपने निजी धाम, वैकुण्ठ लोक, को दिखलाया। यह दिव्य लोक उन समस्त स्वरूपसिद्ध व्यक्तियों द्वारा पूजित है, जो समस्त प्रकार के क्लेशों तथा सांसारिक भय से सर्वथा मुक्त हैं।

**तात्पर्य :** ब्रह्माजी ने जो तप-कष्ट सहे, वे निश्चय ही भक्ति की श्रेणी में थे। अन्यथा ब्रह्मा को *स्वलोकम्* अर्थात् भगवान् का निजी धाम वैकुण्ठ लोक न दिखता। भगवान् का स्वलोक अर्थात् वैकुण्ठ न तो काल्पनिक है, न भौतिक जैसाकि निर्विशेषवादी सोचते हैं। किन्तु भगवान् के इन दिव्य धामों की प्राप्ति भक्ति द्वारा ही सम्भव है और इस प्रकार भक्त लोग ही इन धामों में प्रवेश करते हैं। निस्सन्देह, तप करना कष्टप्रद है, किन्तु भक्ति योग साधना में जो कष्ट सहे जाते हैं, वे आरम्भ से ही दिव्य आनन्द प्रदान करने वाले होते हैं, किन्तु आत्म-साक्षात्कार की अन्य विधियों (ज्ञान योग, ध्यान योग इत्यादि) में तप कष्टदायी होता है; उससे अन्ततः कष्ट ही मिलता है और वैकुण्ठ की प्राप्ति नहीं हो पाती। दानों से रहित भूमी को चबाने से क्या लाभ! इसी प्रकार आत्म-साक्षात्कार के लिए भक्तियोग के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की कष्टप्रद तपस्या करने से कोई लाभ नहीं है।

भक्तियोग साधना श्रीभगवान् के उदर से निकले कमल पर आसन जमाने के समान है, क्योंकि ब्रह्माजी उसी पर आसीन थे। ब्रह्माजी भगवान् को प्रसन्न कर सके और भगवान् ने भी प्रसन्न होकर उन्हें अपना धाम दिखलाया। श्रील जीव गोस्वामी ने *श्रीमद्भागवत* की क्रम-संदर्भ नामक अपनी टीका में गर्ग उपनिषद् से वह उद्धरण दिया है, जिसमें कहा गया है कि याज्ञवल्क्य ने गार्गी से भगवान् के दिव्य लोक के विषय में वर्णन किया और बताया यह लोक ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक के ऊपर स्थित है। भगवान् का यह धाम अल्पज्ञानियों के लिए गुत्थी बना रहता है, यद्यपि *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे ग्रंथों में इसका वर्णन हुआ है। यहाँ पर *स्वदृष्टवद्भिः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जो वास्तव में स्वरूपसिद्ध है, वही अपने दिव्य स्वरूप को समझ पाता है। स्व तथा परमेश्वर का निर्विशेष साक्षात्कार पूर्ण नहीं है, क्योंकि संसारी व्यक्तियों का यह विरोधी विचार है। भगवान् तथा भगवद्भक्त सभी दिव्य हैं। उनके कोई भौतिक शरीर नहीं होता। भौतिक शरीर में पाँच प्रकार के क्लेशों का आवरण रहता है ये हैं—अविद्या, भौतिक बोध, आसक्ति, घृणा तथा अवशोषण। जब तक मनुष्य इन पाँचों क्लेशों से घिरा रहता है, तब तक वैकुण्ठ लोक में उसके प्रविष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता। स्व

की निर्विशेष विचारधारा भौतिक व्यक्तित्व का निषेध है और दिव्य स्वरूप के अस्तित्व से कोसों दूर है। अगले श्लोकों में दिव्य धाम के सगुण रूपों की व्याख्या की जाएगी। ब्रह्माजी ने भी सर्वोच्च लोक, वैकुण्ठ लोक, को गोलोक वृन्दावन कहा है जहाँ भगवान् गोप के रूप में दिव्य सुरभि गायों सहित सैकड़ों-हजारों लक्ष्मियों से घिरे हुए रहते हैं।

*चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम् ।*

*लक्ष्मीसहस्रशतसंभ्रमसेव्यमानं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥*

( ब्रह्म-संहिता ५.२९ )

भगवद्गीता के इस कथन—*यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्भ्राम परमं मम*—की भी पुष्टि होती है। परम का अर्थ है परब्रह्म। अतः भगवान् का धाम भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अभिन्न है, ब्रह्म भी है। भगवान् वैकुण्ठ कहलाते हैं और उनका धाम भी वैकुण्ठ है। ऐसे वैकुण्ठ का साक्षात्कार तथा पूजा दिव्य रूप तथा इन्द्रिय द्वारा ही सम्भव है।

**प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः**

**सत्त्वं च मिश्रं न च काल-विक्रमः ।**

**न यत्र माया किमुतापरे हरे-**

**रनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः ॥ १० ॥**

**शब्दार्थ**

प्रवर्तते—रहता है; यत्र—जहाँ पर; रजः तमः—रजो तथा तमोगुण; तयोः—उन दोनों का; सत्त्वम्—सतोगुण; च—तथा; मिश्रम्—मिश्रण; न—कभी नहीं; च—तथा; काल—समय; विक्रमः—प्रभाव; न—न तो; यत्र—जहाँ पर; माया—छलना, बहिरंगा शक्ति; किम्—क्या; उत—वहाँ है; अपरे—अन्य; हरेः—भगवान् के; अनुव्रताः—भक्त; यत्र—जहाँ पर; सुर—देवताओं; असुर—तथा असुरों द्वारा; अर्चिताः—पूजित।

भगवान् के उस स्वधाम में न तो रजोगुण और तमोगुण रहते हैं, न ही सतोगुण पर इनका कोई प्रभाव दिखता है। वहाँ पर काल को प्रधानता प्राप्त नहीं है। फिर बहिरंगा शक्ति ( माया ) का तो कहना ही क्या? इसका तो वहाँ प्रवेश भी नहीं हो सकता। देवता तथा असुर, बिना भेदभाव के, भक्तों के रूप में भगवान् की पूजा करते हैं।

**तात्पर्य :** भगवान् का धाम या वैकुण्ठ लोक का वातावरण जिसे *त्रिपादविभूति* कहते हैं, भौतिक ब्रह्माण्डों की अपेक्षा तीन गुना विशाल है, जिसका वर्णन यहाँ पर तथा *भगवद्गीता* में संक्षेप में हुआ



है। यह ब्रह्माण्ड, अपने करोड़ों ग्रहों तथा नक्षत्रों सहित महत्-तत्त्व की परिधि में संपुंजित अरबों ब्रह्माण्डों में से एक है। ये समस्त ब्रह्माण्ड मिलकर भगवान् की सृष्टि के चतुर्थांश के तुल्य हैं। वहाँ दिव्य आकाश भी है, जिसके परे वैकुण्ठ नामक आध्यात्मिक लोक हैं और ये सब मिलकर शेष तीन-चौथाई भाग बनाते हैं। ईश्वर की सृष्टियाँ सदा अनन्त होती हैं। यहाँ तक कि एक वृक्ष की पत्तियों या मनुष्य के सिर के बालों की गणना करना असम्भव है। फिर भी मूर्ख व्यक्ति ईश्वर बनने के विचार से फूले-फूले फिरते हैं, भले ही वे अपने शरीर का एक बाल भी न बना सकें। मनुष्य यात्रा करने के नाना प्रकार के यानों का भले ही आविष्कार कर ले और बहुप्रचारित अन्तरिक्षयान द्वारा चन्द्रमा पर पहुँच भी जाय, किन्तु वह वहाँ रह नहीं सकता। फलतः जो मनुष्य बुद्धिमान हैं, वे अपने को ब्रह्माण्ड का ईश्वर मानने का दम्भ नहीं करते, वे सत्त्वज्ञान प्राप्त करने के सरलतम साधन वैदिक साहित्य के आदेशों का पालन करते हैं। अतः हमें चाहिए कि *श्रीमद्भागवत* से हम भौतिक आकाश से परे दिव्य जगत् की प्रकृति तथा रचना के विषय में ज्ञान प्राप्त करें। उस आकाश में भौतिक गुणों, विशेष रूप से रजो तथा तमोगुण, का सर्वथा अभाव रहता है। तमोगुण के कारण जीवात्मा में काम तथा वासना की आदतें उत्पन्न होती हैं, जिसका अर्थ यह हुआ कि वैकुण्ठ लोक में जीवात्माएँ इन दोनों बातों से मुक्त हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है, मनुष्य ब्रह्मभूत अवस्था में वासना तथा शोक दोनों से मुक्त हो जाता है। अतः इससे निष्कर्ष यह निकला कि वैकुण्ठ लोक के निवासी ब्रह्मभूत जीवात्माएँ हैं, जबकि संसारी जीव वासना तथा शोक से पूर्ण रहते हैं। जब भौतिक जगत् में कोई व्यक्ति रजोगुणी तथा तमोगुणी नहीं होता तो उसका यही अर्थ होता है कि वह सतोगुणी है। किन्तु भौतिक जगत् में सतोगुण भी कभी-कभी रजो तथा तमोगुण से दूषित हो जाता है। वैकुण्ठ लोक में केवल अमिश्र सतोगुण पाया जाता है।

वहाँ की सारी परिस्थिति बहिरंगा शक्ति की मोहमय सृष्टि से मुक्त रहती है। यद्यपि माया भी परमेश्वर की अंशस्वरूप है, किन्तु वह परमेश्वर से भिन्न है, परन्तु वह मिथ्या (मृषा) नहीं है जैसाकि एकेश्वरवादी दार्शनिक मानते हैं। रस्सी को साँप समझना किसी व्यक्ति विशेष के लिए भ्रम हो सकता है, किन्तु रस्सी तो वास्तविकता है और सर्प भी वास्तविकता है। गर्म मरुस्थल में जल ढूँढ़ते हुए मूर्ख

पशु के लिए मृगतृष्णा भ्रम हो सकती है, किन्तु मरुस्थल तथा जल दोनों सत्य हैं। अतः अभक्त के लिए भले ही भगवान् की भौतिक सृष्टि भ्रम लगे, किन्तु भगवान् के भक्त के लिए वही सत्य है और वह भगवान् की बहिरंगा शक्ति का प्राकट्य है। किन्तु भगवान् की यह शक्ति ही सब कुछ नहीं है। भगवान् की एक अन्तरंगा शक्ति भी होती है, जिसकी एक अन्य सृष्टि होती है, जिसे वैकुण्ठ लोक कहते हैं जहाँ न अविद्या है, न वासना, न भ्रम और न भूत न वर्तमान। अल्पज्ञान के कारण मनुष्य वैकुण्ठ लोक जैसी इन वस्तुओं को भले ही न समझ पाए, किन्तु इससे उनका अस्तित्व समाप्त नहीं होता। यदि अन्तरिक्षयान ऐसे लोकों तक नहीं पहुँच पाते तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि ऐसे लोक हैं ही नहीं, क्योंकि हमारे शास्त्रों में इनका वर्णन मिलता है।

जैसाकि श्रील जीव गोस्वामी ने उद्धृत किया है, *नारद पंचरात्र* से हम जान सकते हैं कि दिव्य जगत अर्थात् वैकुण्ठ लोक दिव्यगुणों से युक्त है। ये दिव्यगुण जो भगवान् की भक्ति के माध्यम से प्रकाश में आते हैं सांसारिक रजो, तमो तथा सतो गुणों से सर्वथा भिन्न होते हैं। ऐसे गुण अभक्तों द्वारा प्राप्त नहीं किये जा सकते। *पद्म पुराण* के उत्तरखण्ड में कहा गया है कि भगवान् की एक चौथाई सृष्टि से परे शेष तीन चौथाई संसार है। भौतिक सृष्टि तथा आध्यात्मिक सृष्टि के बीच की विभाजक रेखा विरजा नदी है, जो भगवान् के शरीर के पसीने से निकली है। इसके परे ही शेष तीन चौथाई सृष्टि है। यह अंश शाश्वत, अमर, अक्षय तथा अनन्त है और इसमें जीवन की परम सिद्ध स्थिति विद्यमान रहती है। *सांख्य कौमुदी* में कहा गया है कि अमिश्रित सतोगुण अर्थात् सत्त्व अथवा दिव्यता भौतिक गुणों के सर्वथा विपरीत है। वहाँ की समस्त जीवात्माएँ अखंडित, शाश्वत रूप से परस्पर सम्बन्धित हैं और भगवान् प्रधान तथा सर्वोपरि सत्ता हैं। आगम पुराणों में भी दिव्य धाम का वर्णन इस प्रकार मिलता है—पार्षदों को भगवान् की सृष्टि में कहीं भी जाने की छूट है और ऐसी सृष्टि की कोई सीमा नहीं है, विशेष रूप से तीन-चौथाई क्षेत्र में असीम क्षेत्र होने के कारण। इस संयोग का न तो इतिहास है, न इसका कोई अन्त है।

यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वहाँ पर भौतिक रजो तथा तमो गुणों के सर्वथा अभाव के कारण, सृष्टि या प्रलय का प्रश्न ही नहीं उठता। भौतिक जगत में प्रत्येक वस्तु की सृष्टि होती है और

फिर उसका विनाश होता है और सृष्टि तथा विनाश की मध्यावधि क्षणिक है। दिव्यलोक में न तो सृष्टि होती है और न विनाश, फलतः जीवन की अवधि अनन्त होती है। दूसरे शब्दों में, दिव्यलोक की प्रत्येक वस्तु अमर है, वह ज्ञान तथा आनन्द से परि-पूर्ण है और अविनश्वर है। विनाश न होने से, कालानुमान हेतु, वहाँ पर न तो भूत है, न वर्तमान और न भविष्य। इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि काल का प्रभाव उसकी अनुपस्थिति से प्रकट है। सारा संसार तत्त्वों के घात-प्रतिघात से प्रकट होता है, जिससे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के रूप में समय का प्रभाव सुस्पष्ट दिखता है। किन्तु वहाँ पर कार्य-कारण के ऐसे घात-प्रतिघात नहीं होते, अतः जन्म-चक्र, वृद्धि, अस्तित्व, रूपान्तर, क्षय तथा प्रलय—ये छः भौतिक परिवर्तन नहीं पाये जाते। यह तो भगवान् की शक्ति का शुद्ध प्राकट्य है और इसमें कोई माया नहीं है जैसाकि इस भौतिक संसार में अनुभव होता है। वैकुण्ठ का समग्र अस्तित्व बताता है कि वहाँ का प्रत्येक जीव भगवान् का अनुचर है। वहाँ भगवान् ही मुख्य नेता हैं वहाँ नायकत्व के लिए कोई होड़ नहीं है और सारे लोग भगवान् के अनुगामी हैं। अतः वेदों में पुष्टि की गई है कि भगवान् ही प्रधान नायक हैं और शेष सारी जीवात्माएँ उनके अधीन हैं, क्योंकि ईश्वर ही इन सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हैं।

**श्यामावदाताः शत-पत्र-लोचनाः**

**पिशङ्ग-वस्त्राः सुरुचः सुपेशसः ।**

**सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणि--**

**प्रवेक-निष्काभरणाः सुवर्चसः ॥ ११ ॥**

**शब्दार्थ**

श्याम—नीलवर्ण; अवदाताः—आभा से युक्त; शत-पत्र—कमल-पुष्प; लोचनाः—आँखें; पिशङ्ग—पीले रंग का; वस्त्राः—वस्त्र; सुरुचः—अत्यन्त आकर्षक; सु-पेशसः—तरुण; सर्वे—सभी; चतुः—चार; बाहवः—बाहें, हाथ; उन्मिषन्—कान्तिमान्; मणि—मोती; प्रवेक—उत्त कोटि के; निष्क-आभरणाः—आलंकारिक आभूषण; सु-वर्चसः—तेजमय।

वैकुण्ठ लोक के वासियों को आभामय श्यामवर्ण का बताया गया है। उनकी आँखें कमल-पुष्प के समान, उनके वस्त्र पीलाभ रंग के और उनकी शारीरिक संरचना अत्यन्त आकर्षक है। वे उभरते हुए तरुणों की तरह हैं, उन सबके चार-चार हाथ हैं। वे मोती के हारों तथा अलंकृत पदकों से भली-भाँति विभूषित होकर अत्यन्त तेजवान् प्रतीत होते हैं।

**तात्पर्य :** वैकुण्ठ लोक के वासी दिव्य अंग प्रत्यंगों वाले ऐसे महापुरुष हैं, जो इस लोक में नहीं

पाये जाते। इनका वर्णन हमें श्रीमद्भागवत जैसे ग्रन्थों में ही मिलता है। इन ग्रन्थों में दिव्यता के जो निर्विशेष वर्णन प्राप्त होते हैं, वे यह इंगित करते हैं कि वैकुण्ठ लोक की सी शारीरिक रचना ब्रह्माण्ड में अन्यत्र कहीं नहीं देखी जाती है। जिस प्रकार किसी एक लोक के विभिन्न स्थानों में शारीरिक रचना पृथक्-पृथक् होती है या विभिन्न लोकों के प्राणियों के शरीरों की पृथक्-पृथक् रचना होती है, उसी प्रकार वैकुण्ठ लोक के वासियों की शारीरिक रचना भी भौतिक जगत के वासियों से सर्वथा भिन्न है। उदाहरणार्थ, वहाँ के चार हाथ इस संसार के दो हाथ से भिन्न हैं।

प्रवाल-वैदूर्य-मृणाल-वर्चसः ।

परिस्फुरत्कुण्डल-मौलि-मालिनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

प्रवाल—मूँगा; वैदूर्य—विशेष मणि; मृणाल—स्वर्गिक कमल; वर्चसः—किरणों; परिस्फुरत्—फूल रही है; कुण्डल—कान के आभूषण; मौलि—सिर; मालिनः—हारों से युक्त।

उनमें से कुछ की आकृतियाँ मूँगे तथा हीरे की भाँति तेजस्वी हैं और वे अपने सिरों पर मालाएँ धारण किए हैं, जो कमल-पुष्प के समान खिली हुई हैं। कुछ ने कानों में कुण्डल पहन रखे हैं।

तात्पर्य : कुछ निवासी ऐसे हैं, जिन्हें सारूप्य मुक्ति प्राप्त है, अर्थात् उनके शारीरिक लक्षण श्रीभगवान् जैसे हैं। वैदूर्य मणि विशेषतः भगवान् के निमित्त है, किन्तु जिसे भगवान् का सारूप्य प्राप्त होता है, उसको ऐसा मणि धारण करने का विशेष सौभाग्य प्राप्त होता है।

भ्राजिष्णुभिर्यः परितो विराजते

लसद्विमानावलिभिर्महात्मनाम् ।

विद्योतमानः प्रमदोत्तमाद्युभिः

सविद्युदभ्रावलिभिर्यथा नभः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

भ्राजिष्णुभिः—आभा से; यः—वैकुण्ठ लोक; परितः—घिरा हुआ; विराजते—स्थित है; लसत्—तेजमान; विमान—विमान के; अवलिभिः—समूह से; महा-आत्मनाम्—भगवान् के महान् भक्तों का; विद्योतमानः—बिजली के समान सुन्दर; प्रमद—स्त्रियाँ; उत्तम—स्वर्गिक; अद्युभिः—मुखड़ों से; स-विद्युत्—बिजली सहित; अभ्रावलिभिः—आकाश में बादलों से; यथा—जिस प्रकार; नभः—आकाश।

सारे वैकुण्ठ लोक विभिन्न चमचमाते विमानों से भी घिरे हैं। ये विमान महात्माओं या

भगवद्भक्तों के हैं। स्त्रियाँ अपने स्वर्गिक मुखमण्डल के कारण बिजली के समान सुन्दर लगती हैं और ये सब मिलकर ऐसी प्रतीत होती हैं मानो बादलों तथा बिजली से आकाश सुशोभित हो।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि वैकुण्ठ लोकों में चमचमाते विमान रहते हैं जिनमें भगवान् के परमभक्त तथा बिजली के समान द्युतिमान नैसर्गिक सुन्दर स्त्रियाँ बैठी रहती हैं। विमानों जैसे तरह-तरह के अन्य वाहन भी होंगे, किन्तु वे सम्भवतः यन्त्रों द्वारा न चलाये जाते हों जैसाकि हमारा अनुभव इस संसार में है। चूँकि हर वस्तु सच्चिदानन्दस्वरूप है, अतः विमान तथा वाहन भी ब्रह्म के ही समान गुणों वाले होंगे। यद्यपि वहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, किन्तु इसका यह गलत अर्थ नहीं समझना चाहिए कि वहाँ केवल शून्य है और विविधता नहीं है। ऐसा सोचना ज्ञान के अभाव का द्योतक है, अन्यथा ब्रह्म में रिक्तता की ऐसी भ्रांति किसी को क्यों हो? जिस प्रकार वहाँ विमान, स्त्रियाँ तथा पुरुष हैं उसी तरह लोक विशेष के अनुरूप नगर, घर तथा अन्य वस्तुएँ भी होती होंगी। मनुष्य को इस जगत के आधार पर दिव्य जगत के सम्बन्ध में अपूर्णता का आरोप नहीं करना चाहिए और वायुमण्डल (आकाश) को काल के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं समझना चाहिए, जैसाकि पहले कहा जा चुका है।

श्रीर्यत्र रूपिण्युरुगाय-पादयोः

करोति मानं बहुधा विभूतिभिः ।

प्रेङ्खं श्रिता या कुसुमाकरानुगै-

विगीयमाना प्रिय-कर्म गायती ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

श्रीः—लक्ष्मी जी; यत्र—वैकुण्ठ लोक में; रूपिणी—अपने दिव्य रूप में; उरुगाय—भगवान्, जिनकी स्तुति बड़े-बड़े भक्त करते हैं; पादयोः—भगवान् के चरणकमलों में; करोति—करती है; मानम्—सादर सेवा; बहुधा—विविध सामग्री से; विभूतिभिः—अपने पार्षदों के सहित; प्रेङ्खम्—प्रसन्नता से संचलन ( थिरकन ); श्रिता—शरणागत; या—जो; कुसुमाकर—वसन्त; अनुगैः—भौरों से; विगीयमाना—गुण-गान करते हुए; प्रिय-कर्म—अपने प्रियतम के कार्यकलापों; गायती—गाती हुई।

दिव्य रूपधारी लक्ष्मीजी भगवान् के चरणकमलों की प्रेमपूर्ण सेवा में लगी हुई हैं और वसन्त के अनुचर भौरों के द्वारा विचलित होकर, वे न केवल विविध विलास—अपनी सहेलियों सहित भगवान् की सेवा—में तत्पर हैं, अपितु भगवान् की लीलाओं का गुणगान भी कर रही हैं।

ददर्श तत्राखिल-सात्वतां पतिं

श्रियः पतिं यज्ञ-पतिं जगत्पतिम् ।

सुनन्द-नन्द-प्रबलार्हणादिभिः

स्व-पार्षदाग्रैः परिसेवितं विभुम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ददर्श—ब्रह्मा ने देखा; तत्र—वहाँ ( वैकुण्ठ लोक में ); अखिल—सम्पूर्ण; सात्वताम्—परम भक्तों के; पतिम्—स्वामी;  
श्रियः—लक्ष्मी के; पतिम्—स्वामी; यज्ञ—यज्ञ के; पतिम्—स्वामी; जगत्—ब्रह्माण्ड के; पतिम्—स्वामी; सुनन्द—सुनन्द;  
नन्द—नन्द; प्रबल—प्रबल; अर्हण—अर्हण; आदिभिः—आदि से; स्व-पार्षद—अपने संगी; अग्रैः—अग्रणी; परिसेवितम्—  
दिव्य प्रेम में सेवित; विभुम्—परम शक्तिमान् ।

ब्रह्माजी ने वैकुण्ठ लोक में उन श्रीभगवान् को देखा जो सारे भक्त समुदाय के स्वामी, लक्ष्मीजी के पति, समस्त यज्ञों के स्वामी तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं और जो नन्द, सुनन्द, प्रबल तथा अर्हण आदि अपने अग्रणी पार्षदों द्वारा सेवित हैं ।

तात्पर्य : जब हम राजा की बात करते हैं, तो इससे यही समझा जाता है कि राजा के साथ उनके विश्वासपात्र पार्षद—यथा उनका सचिव, निजी सचिव, मन्त्री, सलाहकार रहते हैं । इसी प्रकार जब हम भगवान् का दर्शन करते हैं, तो उनके साथ उनकी विभिन्न शक्तियाँ, पार्षद, विश्वासपात्र सेवक आदि भी देखते हैं । अतः परमेश्वर जो समस्त जीवों, समस्त भक्त सम्प्रदायों, ऐश्वर्यों, यज्ञों का स्वामी हैं और अपनी सारी सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का भोक्ता हैं, न केवल परम पुरुष हैं वरन् अपनी दिव्य सेवा करने वाले पार्षदों से निरन्तर घिरे रहते हैं ।

भृत्य-प्रसादाभिमुखं दृगासवं

प्रसन्न-हासारुण-लोचनाननम् ।

किरीटिनं कुण्डलिनं चतुर्भुजं

पीतांशुकं वक्षसि लक्षितं श्रिया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

भृत्य—दास; प्रसाद—स्नेह; अभिमुखम् दृक्—दृष्टि; आसवम्—मादक पदार्थ; प्रसन्न—अत्यन्त प्रसन्न; हास—हँसी; अरुण—  
लाल; लोचन—नेत्र; आननम्—मुख; किरीटिनम्—मुकुटयुक्त; कुण्डलिनम्—कुण्डलों सहित; चतुः-भुजम्—चारों हाथों से  
युक्त; पीत—पीला; अंशुकम्—वस्त्र; वक्षसि—छाती पर; लक्षितम्—अंकित; श्रिया—लक्ष्मी से ।

अपने प्रिय दासों की ओर कृपा दृष्टि डालते हुए, मादक तथा आकर्षक दृष्टि वाले भगवान् अत्यधिक तुष्ट लगे । उनका मुस्काता मुख मोहक लाल रंग से सुशोभित था । वे पीले वस्त्र पहने थे और कानों में कुण्डल तथा सिर में मुकुट धारण किये हुए थे । उनके चार हाथ थे और उनका

वक्षस्थल लक्ष्मीजी की रेखाकृतियों से चिह्नित था।

तात्पर्य : पद्म पुराण के उत्तर खंड में योगपीठ का अर्थात् उस स्थान का जहाँ भगवान् अपने नित्य भक्तों को दर्शन देते हैं, पूर्ण विवरण दिया हुआ है। उस योगपीठ में साक्षात् धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य तथा त्याग भगवान् के चरणकमलों पर आसीन हैं। वहाँ पर ऋक्, साम, यजुः तथा अथर्व—ये चारों वेद भगवान् को सलाह देने के लिए उपस्थित हैं। चण्ड आदि सोलहों शक्तियाँ वहाँ विद्यमान हैं। चण्ड तथा कुमुद प्रथम दो द्वारपाल हैं; बीच के द्वार पर भद्र तथा सुभद्र और अन्तिम द्वार पर जय तथा विजय हैं। कुमुद, कुमुदाक्ष, पुण्डरीक, वामन, शंकुकर्ण, सर्वनेत्र, सुमुख आदि अन्य द्वारपाल भी हैं। भगवान् का महल अच्छी तरह सजा हुआ तथा उपर्युक्त द्वारपालों द्वारा रक्षित है।

अध्यर्हणीयासनमास्थितं परं

वृतं चतुः-षोडश-पञ्च-शक्तिभिः ।

युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाधुवैः

स्व एव धामन् रममाणमीश्वरम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अध्यर्हणीय—अत्यन्त पूज्य; आसनम्—सिंहासन पर; आस्थितम्—बैठे हुए; परम्—परमेश्वर; वृतम्—घिरे हुए; चतुः—चार; प्रकृति, पुरुष, महत् तथा अहंकार; षोडश—सोलह; पञ्च—पाँच; शक्तिभिः—शक्तियों से; युक्तम्—युक्त; भगैः—ऐश्वर्य से; स्वैः—अपने; इतरत्र—अन्य छोटे-छोटे पराक्रम; च—भी; अधुवैः—क्षणिक; स्वे—अपने; एव—निश्चय ही; धामन्—धाम; रममाणम्—रमण करते हुए; ईश्वरम्—परमेश्वर।

भगवान् अपने सिंहासन पर विराजमान थे और विभिन्न शक्तियों से—यथा चार, सोलह, पाँच तथा छः प्राकृतिक ऐश्वर्यों के साथ अन्य छोटी एवं क्षणिक शक्तियों से घिरे हुए थे। किन्तु वे वास्तविक परमेश्वर थे और अपने धाम में आनन्द ले रहे थे।

तात्पर्य : भगवान् अपने छः ऐश्वर्यों से युक्त होते हैं। विशेषतः वे सबसे धनी, सर्वशक्तिमान, सर्वाधिक प्रसिद्ध, सर्वाधिक सुन्दर, सर्वाधिक ज्ञानी तथा सबसे बड़े त्यागी होते हैं और उनकी चार भौतिक सर्जनात्मक शक्तियों के लिए प्रकृति, पुरुष, महत् तत्त्व के सिद्धान्त तथा अहंकार तो उनकी सेवा करते हैं। उनकी सेवा सोलह तत्त्व भी करते हैं—पाँच तत्त्व (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (नाक, कान, आँख, जीभ तथा त्वचा) तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पाँव, पेट, मल-त्याग इन्द्रियाँ मूत्र तथा जननेन्द्रियाँ) तथा मन। पाँच के अन्तर्गत रूप, स्वाद, गंध, शब्द तथा स्पर्श

नामक पाँच तन्मात्राएँ आती हैं। ये पच्चीस शक्तियाँ सृष्टि करते समय भगवान् की सहायक बनती हैं और भगवान् की सेवा में प्रत्यक्ष रूप में लगी रहती हैं। लघु ऐश्वर्यों की संख्या आठ है (अस्थायी प्रभुत्व के लिए योगियों द्वारा प्राप्त की गई अष्ट सिद्धियाँ) और ये भी उनके वश में रहते हैं, किन्तु बिना प्रयास के इन समस्त शक्तियों से स्वाभाविक रूप से पूर्ण रहते हैं और इस कारण ही वे परमेश्वर हैं।

जीव कठिन तप तथा शारीरिक आसनों के द्वारा अस्थाई रूप से विलक्षण शक्ति प्राप्त कर सकता है, किन्तु इतने से वह परमेश्वर नहीं बन जाता। परमेश्वर अपनी शक्ति से ही किसी भी योगी से कहीं अधिक शक्तिमान है, किसी भी ज्ञानी की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान, किसी भी धनी की तुलना में अत्यन्त धनवान, किसी भी सुन्दर जीव की अपेक्षा अनन्त रूपवान तथा किसी भी उपकारी की अपेक्षा अधिक दानी है। वे सर्वोपरि हैं; कोई न तो उनके समान है, न उनसे बढ़कर। कोई कितना ही तप या योगिक प्रदर्शन क्यों न करे, उपर्युक्त किन्हीं भी शक्तियों में उनकी समता नहीं कर सकता। योगी उनकी कृपा पर आश्रित रहते हैं। अपनी असीम दानशीलता के कारण वे शक्ति के पीछे दौड़ने वाले योगियों को कुछ अस्थायी शक्तियाँ प्रदान कर सकते हैं, किन्तु अपने शुद्ध भक्तों को, जो भगवान् से उनकी दिव्य सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते, वे प्रसन्न होकर शुद्ध सेवा के बदले में अपने आपको दे डालते हैं।

**तद्दर्शनाह्लाद-परिप्लुतान्तरो**

**हृष्यत्तनुः प्रेम-भराश्रु-लोचनः ।**

**ननाम पादाम्बुजमस्य विश्व-सृग्**

**यत् पारमहंस्येन पथाधिगम्यते ॥ १८ ॥**

**शब्दार्थ**

तत्—भगवान् के उस; दर्शन—दर्शन से; आह्लाद—प्रसन्नता; परिप्लुत—लबालब भरा हुआ, आप्लावित; अन्तरः—हृदय के भीतर; हृष्यत्—पुलकित; तनुः—शरीर; प्रेम-भर—पूर्ण दिव्य प्रेम में; अश्रु—आँसु; लोचनः—आँखों में; ननाम—नतमस्तक हुआ; पाद-अम्बुजम्—चरणकमलों पर; अस्य—भगवान् के; विश्व-सृग्—ब्रह्माण्ड का स्रष्टा; यत्—जो; पारमहंस्येन—परम मुक्त पुरुष द्वारा; पथा—पथ; अधिगम्यते—अनुसरण किया जाता है।

इस तरह भगवान् को उनके पूर्ण रूप में देखकर ब्रह्माजी का हृदय आनन्द से आप्लावित हो उठा और दिव्य प्रेम तथा आनन्द से उनके नेत्रों में प्रेमाश्रु आ गये। वे भगवान् के समक्ष नतमस्तक हो गये। जीव ( परमहंस ) के लिए परम सिद्धि की यही विधि है।



**तात्पर्य :** श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में कहा गया है कि यह महान् ग्रंथ परमहंसों के लिए है। परमो निर्मत्सराणां सताम्—श्रीमद्भागवत ईर्ष्या से पूर्णतः मुक्त पुरुषों के हेतु है। बद्ध जीवन में ईर्ष्या सबसे ऊपर से अर्थात् श्रीभगवान् के विरुद्ध ईर्ष्या रखने से शुरू होती है। सभी शास्त्र भगवान् की सत्ता को मानते हैं और भगवद्गीता में तो परमेश्वर के सगुण रूप का विशेष वर्णन हुआ है। यहाँ तक कि इस ग्रंथ के अन्त में इस बात पर बल दिया गया है कि जीवन के क्लेशों से बचने के लिए मनुष्य को भगवान् की शरण में जाना चाहिए। दुर्भाग्यवश अपवित्र पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति ईश्वर में विश्वास नहीं करते और हर व्यक्ति बिना किसी योग्यता के ईश्वर बनना चाहता है। बद्धजीवों का यह ईर्ष्यालु स्वभाव ईश्वर के साथ तदाकार होने की अवस्था तक बना रहता है, अतः बड़े से बड़ा दार्शनिक भी जो ईश्वर के साथ तादात्म्य चाहता है अपने ईर्ष्यालु मन के कारण कभी भी परमहंस नहीं बन सकता। अतः जो लोग भक्तियोग में रत हैं केवल वे ही जीवन की परमहंस अवस्था को प्राप्त होते हैं। यदि मनुष्य का यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि दिव्य प्रेम में भगवान् की भक्ति करने मात्र से वह परम सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो सकता है, तो बस वहीं से भक्तियोग की शुरुआत हो जाती है। ब्रह्माजी को इस भक्तियोग की कला पर विश्वास था उन्होंने भगवान् द्वारा तप करने के आदेश पर विश्वास किया और कठिन तप के द्वारा वैकुण्ठ लोक तथा भगवान् के दर्शन प्राप्त करने में सफलता पाई। कोई भी मनुष्य मन या मशीन के साधनों द्वारा परमेश्वर के धाम तक नहीं पहुँच सकता। केवल भक्तियोग के बल पर वह वैकुण्ठ लोक को जा सकता है, क्योंकि भगवान् का साक्षात्कार भक्तियोग के द्वारा ही किया जा सकता है। ब्रह्माजी अपने कमल-आसन पर विराजमान थे और वे वहीं से अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक भक्तियोग की साधना द्वारा चित्र-विचित्र वैकुण्ठ लोक को भगवान् तथा उनके पार्षदों सहित देख सके।

ब्रह्माजी के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए आज भी कोई व्यक्ति यहाँ पर बताये परमहंस के पथ पर चलकर वैसी ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी इस युग में मनुष्यों के लिए आत्म-साक्षात्कार की इस विधि की संस्तुति की है। सर्वप्रथम मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् श्रीकृष्ण में पूर्ण विश्वास करे। चिन्तन द्वारा समझने करने का कोई प्रयत्न न करे, पहले श्रीमद्भगवद्गीता से उनके विषय में सुने और फिर श्रीमद्भागवत से सुने। ऐसे उपदेशों को वह

भागवत व्यक्ति से सुने, पेशेवर कथावाचक या किसी कर्मी, ज्ञानी या योगी से नहीं। ज्ञान प्राप्त करने का यही रहस्य है। मनुष्य को संन्यासी बनना आवश्यक नहीं है; वह अपनी वर्तमान अवस्था में बना रह सकता है, किन्तु उसे भगवद्भक्त की संगति ढूँढनी चाहिए और श्रद्धा तथा विश्वास के साथ उससे भगवान् की दिव्य कथा सुनी चाहिए। यहाँ पर संस्तुत परमहंस का पथ यही है। भगवान् के अनेक पवित्र नामों में से 'अजित' भी एक नाम है, जिसका अर्थ है किसी दूसरे के द्वारा कभी न जीता जाने वाला। फिर भी उन्हें परमहंस पथ से जीता जा सकता है जैसाकि परम गुरु ब्रह्मा ने करके दिखाया है। ब्रह्मा ने स्वयं इस परमहंस पन्था: को श्रीमद्भागवत (१०.१४.३) में अपने शब्दों में इस प्रकार बताया है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव  
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीय वार्ताम्।  
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये  
प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥

ब्रह्माजी ने कहा, “हे भगवान् श्रीकृष्ण! जो भक्त परमात्मा के अस्तित्व में मिल जाने के उद्देश्य से चिन्तन मार्ग को त्याग कर प्रामाणिक साधु या संत से आपकी महिमा तथा लीलाओं का श्रवण करता है और अपने सामाजिक जीवन में वृत्तिपरक कर्तव्य का पालन करता हुआ निष्कपट जीवन व्यतीत करता है, वह आपकी कृपा तथा दया को जीत सकता है, यद्यपि आप अजित हैं।” यही परमहंसों का पथ है, जिसका अनुसरण स्वयं ब्रह्माजी ने किया और बाद में सफलता प्राप्त करने के लिए औरों के लिए इसीकी संस्तुति की।

तं प्रीयमाणं समुपस्थितं कविं  
प्रजा-विसर्गे निज-शासनार्हणम् ।  
बभाष ईषत्स्मित-शोचिषा गिरा  
प्रियः प्रियं प्रीत-मनाः करे स्पृशन् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तम्—ब्रह्माजी को; प्रीयमाणम्—प्रिय पात्र; समुपस्थितम्—सामने उपस्थित; कविम्—महान् विद्वान्; प्रजा—जीवात्माओं की; विसर्गे—सृष्टि के कार्य में; निज—अपना; शासन—नियन्त्रण; अर्हणम्—उपयुक्त; बभाषे—सम्बोधित किया; ईषत्—मन्द;

स्मित—हँसते हुए; शोचिषा—उत्साहवर्धक; गिरा—वाणी; प्रियः—प्रिय; प्रियम्—प्रेमी को; प्रीत-मनाः—अत्यन्त प्रसन्न होकर; करे—हाथ से; स्पृशन्—छूते हुए।

भगवान् ने ब्रह्माजी को अपने समक्ष देखकर उन्हें जीवों की सृष्टि करने तथा जीवों को अपनी इच्छानुसार नियन्त्रित करने के लिए उपयुक्त ( पात्र ) समझा। इस प्रकार प्रसन्न होकर भगवान् ने ब्रह्मा से मंद-मंद हँसते हुए हाथ मिलाया और उन्हें इस प्रकार से सम्बोधित किया।

**तात्पर्य :** जगत की सृष्टि न तो निरुद्देश्य हुई है न आकस्मिक। इस तरह नित्यबद्ध जीवात्माओं को भगवान् द्वारा ब्रह्माजी जैसे अपने ही प्रतिनिधि के मार्ग-दर्शन में मुक्ति के लिए अवसर प्रदान किया जाता है। ब्रह्माजी को वैदिक ज्ञान का उपदेश देते हैं जिससे इस ज्ञान का प्रसार बद्धजीवों तक हो सके। बद्धजीव भगवान् से अपने सम्बन्ध को भूलते रहते हैं, अतः भगवान् के लिए आवश्यक है कि वे सृष्टि करें और वैदिक ज्ञान का प्रसार करें। बद्धजीवों के उद्धार का महान् उत्तरदायित्व ब्रह्माजी पर है, इसीलिए वे भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं।

ब्रह्माजी भी अपने कर्तव्य को भलीभाँति निबाहते हैं—वे न केवल जीवात्माओं को उत्पन्न करते हैं वरन् पतित जीवों के उद्धार के लिए अपने दल को चारों ओर फैला देते हैं। यह दल *ब्रह्म सम्प्रदाय* कहलाता है और इस दल का हर सदस्य आज भी पतित जीवों का उद्धार करके भगवान् के धाम भेजने में संलग्न है। भगवान् अपने अंशों को वापस पाने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं—जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। जो पतितों को भगवान् के धाम ले जाने का कार्य करता है, उन्हें उससे अधिक प्रिय अन्य कोई नहीं है।

ब्रह्म सम्प्रदाय में कुछ ऐसे स्वधर्म त्यागी भी हैं जिनका एकमात्र कार्य ईश्वर की विस्मृति कराकर मनुष्यों को इस भौतिक संसार में अधिकाधिक फँसाना है। ऐसे मनुष्य कभी भी भगवान् के प्रिय नहीं बन सकते। भगवान् इन ईर्ष्यालु असुरों को ऐसे अंधकार में भेज देते हैं जहाँ वे परमेश्वर को जान भी नहीं सकें।

किन्तु ब्रह्म सम्प्रदाय का कोई भी व्यक्ति जो भगवान् के सन्देश का उपदेश देता है, भगवान् को प्रिय है और ऐसे ही प्रामाणिक भक्ति सम्प्रदाय के प्रचारक से प्रसन्न होकर वे उससे हाथ मिलाते हैं।

श्री-भगवानुवाच

त्वयाहं तोषितः सम्यग् वेद-गर्भं सिसृक्षया ।

चिरं भूतेन तपसा दुस्तोषः कूट-योगिनाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—परम सुन्दर भगवान् ने कहा; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अहम्—मैं; तोषितः—प्रसन्न हूँ; सम्यक्—पूर्ण; वेद-गर्भ—वेद से संपृक्त; सिसृक्षया—उत्पत्ति के हेतु; चिरम्—दीर्घकाल से; भूतेन—संचित; तपसा—तपस्या से; दुस्तोषः—कठिनाई से प्रसन्न होने वाला; कूट-योगिनाम्—छद्मयोगियों के लिए।

परम सुन्दर भगवान् ने ब्रह्मा को सम्बोधित किया—हे वेदों से संपृक्त ब्रह्मा, सृष्टि की इच्छा से की गई तुम्हारी दीर्घकालीन तपस्या से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मैं छद्मयोगियों से बहुत ही मुश्किल से प्रसन्न हो पाता हूँ।

तात्पर्य : तपस्या दो प्रकार की होती है—एक तो इन्द्रियतृप्ति हेतु और दूसरी आत्म-साक्षात्कार हेतु। ऐसे अनेक छद्मयोगी हैं, जो अपनी तृप्ति के लिए कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु ऐसे भी योगी हैं, जो भगवान् की इन्द्रिय-तृप्ति के लिए तप करते हैं। उदाहरणार्थ यदि परमाणु हथियार की खोज के लिए तप किया जाय तो इससे भगवान् प्रसन्न नहीं होंगे, क्योंकि ऐसा तप कभी भी सन्तोषप्रद नहीं होगा। प्रत्येक मनुष्य को मरना है, किन्तु यदि किसी के तप द्वारा मृत्यु की प्रक्रिया त्वरित हो जाये, तो इससे भगवान् को प्रसन्नता नहीं होगी। भगवान् चाहते हैं कि उनके सारे अंश भगवान् के धाम पहुँच कर शाश्वत जीवन पाएँ और आनन्द भोगें और सारी भौतिक सृष्टि की रचना इसी उद्देश्य से की गई है। ब्रह्मा ने इसी उद्देश्य के लिए—अर्थात् सृष्टि क्रम को नियमित करने के लिए तपस्या की, जिससे भगवान् प्रसन्न हो सकें। इसीलिए भगवान् उनसे इतने प्रसन्न हुए और ब्रह्माजी को वैदिक ज्ञान से पूरित कर दिया। वैदिक ज्ञान का चरम लक्ष्य भगवान् को जानना है, अन्य कार्यों में इसका दुरुपयोग करना नहीं। जो वैदिक ज्ञान का उपयोग इस कार्य के लिए नहीं करते, वे कूट योगी कहलाते हैं, जो निरुद्देश्य अपना जीवन विनष्ट कर देते हैं।

वरं वरय भद्रं ते वरेशं माभिवाञ्छितम् ।

ब्रह्मञ्छ्रेयः-परिश्रामः पुंसां महर्शनावधिः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

वरम्—वरदान; वरय—मुझसे माँगो; भद्रम्—कल्याण हो; ते—तुम्हारा; वर-ईशम्—समस्त वरों के दाता; मा ( माम् )—मुझसे; अभिवाञ्छितम्—जो चाहो, मुँह माँगा; ब्रह्मन्—हे ब्रह्मा; श्रेयः—परम सफलता; परिश्रामः—समस्त तपस्या के लिए; पुंसाम्—सबों के लिए; मत्—मेरा; दर्शन—साक्षात्कार; अवधिः—पर्यवसान, अन्तिम सीमा।

तुम्हारा कल्याण हो। हे ब्रह्मा, तुम मुझसे जो चाहो माँग सकते हो, क्योंकि मैं समस्त वरों का वरदाता हूँ; तुम्हें ज्ञात हो कि सारी तपस्या के फलस्वरूप जो अन्तिम वर प्राप्त होता है, वह मेरा दर्शन है।

**तात्पर्य :** परमेश्वर का परम साक्षात्कार उनको जानना और अपने समक्ष उनका दर्शन करना है। निर्विशेष ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा का साक्षात्कार परम साक्षात्कार नहीं है। जब मनुष्य को परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है, तो उसे ऐसी तपस्या के लिए संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। जीवन की दूसरी अवस्था है ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए उनकी भक्ति करना। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि जिसने भगवान् के दर्शन कर लिए हैं उसे पूर्णसिद्धि प्राप्त हो चुकी है, क्योंकि उस उच्चतम सिद्धि में सभी कुछ सम्मिलित है। किन्तु निर्विशेषवादी तथा छद्मयोगी इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते।

मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम् ।

यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमं तपः ॥ २२ ॥

**शब्दार्थ**

मनीषित—पटुता; अनुभावः—दर्शन; अयम्—यह; मम—मेरा; लोक—धाम; अवलोकनम्—वास्तविक अनुभव से देखते हुए; यत्—क्योंकि; उपश्रुत्य—सुनकर; रहसि—परम तप में; चकर्थ—सम्पन्न करके; परमम्—सर्वोच्च; तपः—तपस्या।

सर्वोच्च सिद्धिमयी पटुता है मेरे धाम का साक्षात् दर्शन और यह दर्शन तुम्हें मेरे आदेश के अनुसार कठिन तपस्या के प्रति तुम्हारी विनम्र प्रवृत्ति के कारण सम्भव हो सका है।

**तात्पर्य :** जीवन की सर्वोच्च सिद्धि की अवस्था भगवान् की कृपा के फलस्वरूप वास्तविक दर्शन द्वारा भगवान् को जानना है। इसकी प्राप्ति उस प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है, जो शास्त्रोक्त तथा प्रामाणिक आचार्यों द्वारा स्वीकृत मानदण्ड के अनुसार भक्तिमय सेवा का इच्छुक है। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* समस्त महान् आचार्यों, यथा शंकर, रामानुज, मध्व, चैतन्य, विश्वनाथ, बलदेव, सिद्धान्त सरस्वती तथा अनेक अन्यो द्वारा स्वीकृत प्रामाणिक वैदिक ग्रन्थ है। उसी *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरा ही ध्यान धरो, मेरे भक्त बनो, मेरी ही पूजा करो और सदैव मेरे ही समक्ष झुको। ऐसा करने से निस्सन्देह मनुष्य का भगवान् के धाम को जाना निश्चित है। अन्य स्थानों में भी

इसी तरह कहा गया है कि अन्य सारे कार्यो को त्यागकर निःसंकोच भाव से भगवान् की शरण में जाओ। भगवान् ऐसे भक्त को समस्त सुरक्षा प्रदान करते हैं। सर्वोच्च सिद्ध-अवस्था प्राप्त करने के ये गुप्त गुर हैं। ब्रह्माजी ने इन्हीं नियमों का किसी श्रेष्ठता का विचार किए बिना पालन किया जिससे उन्हें भगवान् के धाम को सारी साज-सामग्री के साथ देखने तथा भगवान् के साक्षात्कार का सुयोग प्राप्त हो सका। न तो भगवान् के शरीर के तेज का निर्गुण दर्शन सर्वोच्च सिद्धावस्था है, न ही परमात्मा की अनुभूति की अवस्था। *मनीषिता* शब्द सार्थक है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने तथाकथित ज्ञान का झूठा या सही गर्व होता है, किन्तु भगवान् का कथन है कि ज्ञान की सर्वोच्च सिद्धावस्था उनको तथा उनके धाम को मायारहित होकर जान लेना है।

प्रत्यादिष्टं मया तत्र त्वयि कर्म-विमोहिते ।

तपो मे हृदयं साक्षादात्माहं तपसोऽनघ ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

प्रत्यादिष्टम्—आदेश प्राप्त; मया—मेरे द्वारा; तत्र—के कारण; त्वयि—तुमको; कर्म—कर्तव्य; विमोहिते—मोहग्रस्त होकर; तपः—तपस्या; मे—मेरा; हृदयम्—हृदय; साक्षात्—प्रत्यक्ष रूप से; आत्मा—जीवन तथा आत्मा; अहम्—मैं स्वयं; तपसः—तपस्या करने वाले का; अनघ—हे निष्पाप।

हे निष्पाप ब्रह्मा, तुम्हें ज्ञात हो कि जब तुम अपने कर्तव्य के प्रति असमंजस में थे तो सबसे पहले मैंने ही तुम्हें तपस्या करने का आदेश दिया था। ऐसी तपस्या ही मेरा हृदय और मेरी आत्मा है, अतः तपस्या मुझसे अभिन्न है।

तात्पर्य : जिस तपस्या से भगवान् का साक्षात् दर्शन किया जा सकता है, उसे भगवान् की भक्तिमय सेवा को समझना चाहिए और कुछ नहीं, क्योंकि केवल दिव्य प्रेमपूर्ण भक्ति भाव के द्वारा ही भगवान् तक पहुँचा जा सकता है। ऐसी तपस्या भगवान् की अन्तरंगा शक्ति होती है और उनसे अभिन्न होती है। ऐसी अन्तरंगा शक्ति के कार्य भौतिक सुख से विरक्ति होने पर प्रगट होते हैं। अत्यधिक प्रभुत्व जताने की प्रवृत्ति के कारण ही जीवात्मा भौतिक बन्धन में बन्दी हो जाती है। किन्तु भगवान् की भक्ति करने से मनुष्य सुख-भोग की प्रवृत्ति से विरक्त होता है। भक्तजन स्वतः भौतिक सुख से विरक्त हो जाते हैं और यह विरक्ति पूर्णज्ञान का प्रतिफल है। अतः भक्ति की तपस्या में ज्ञान तथा विरक्ति निहित होते हैं और यही दिव्य शक्ति का प्राकट्य है।

यदि कोई भगवान् के धाम वापस जाने का इच्छुक है, तो वह भौतिक मायावी सम्पत्ति का भोग नहीं कर सकता। जिसे भगवान् की संगति के दिव्य आनन्द का पता नहीं है, वही मूर्खतावश क्षणिक भौतिक सुख की कामना करता है। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि यदि कोई सचमुच भगवान् के दर्शन करना चाहता है और उसके साथ-साथ भौतिक सुख का भोग करना चाहता है, तो उसे मूर्ख ही समझना चाहिए। जो सुखोपभोग के लिए इस संसार में रहना चाहता है उसे भगवान् के शाश्वत धाम जाने से कोई मतलब नहीं है। भगवान् ऐसे मूर्ख भक्त की सारी भौतिक सम्पत्ति छीन कर उसे कृतार्थ करते हैं। यदि ऐसा मूर्ख भक्त पुनः सम्पत्ति बटोरना चाहता है, तो दयालु भगवान् उसे दुबारा छीन लेते हैं। बारम्बार भौतिक संपन्नता में ऐसी असफलता के कारण वह अपने कुटुम्बियों तथा मित्रों में बहुत अलोकप्रिय हो जाता है। भौतिक जगत में कुटुम्बी तथा मित्र तो उसी का आदर करते हैं, जो येन-केन प्रकारेण धन संचित करता है। फलस्वरूप, ऐसे मूर्ख भक्त को भगवत्कृपा से बाध्य होकर तपस्या करनी पड़ती है और अन्त में वह भगवद्भक्ति में संपन्न होने के कारण पूर्ण सुखी हो जाता है। अतः भगवद्भक्ति में सिद्धि प्राप्त करने के लिए तपस्या आवश्यक है, चाहे वह स्वैच्छिक भाव से हो या ईश्वर द्वारा बलपूर्वक लादी गई हो और ऐसी तपस्या ही भगवान् की अन्तरंगा शक्ति है।

किन्तु समस्त पापों से पूर्ण रूप से मुक्त हुए बिना भक्त तपस्या में संलग्न नहीं हो सकता। जैसाकि *भगवद्गीता* का कथन है, वही व्यक्ति भगवान् की पूजा में रत हो सकता है, जो समस्त पापों से मुक्त हो। ब्रह्माजी निष्पाप थे, अतः उन्होंने भगवान् के “तप तप” आदेश का श्रद्धापूर्वक पालन किया और भगवान् ने प्रसन्न होकर उन्हें वांछित फल प्रदान किया। अतः प्रेम तथा तपस्या दोनों के मेल से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं और उनकी पूर्ण कृपा प्राप्त की जा सकती है। वे निष्पाप का निर्देशन करते हैं और निष्पाप भक्त जीवन की परम सिद्धि प्राप्त करता है।

सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः ।

बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तपः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सृजामि—उत्पन्न करता हूँ; तपसा—तपस्या की उसी शक्ति से; एव—निश्चय ही; इदम्—यह; ग्रसामि तपसा—उसी शक्ति से अपने में लीन करता हूँ; पुनः—फिर; बिभर्मि—पालन करता हूँ; तपसा—तप से; विश्वम्—विश्व; वीर्यम्—शक्ति; मे—मेरा; दुश्चरम्—कठिन; तपः—तपस्या।

मैं ऐसे ही तप से इस विश्व की रचना करता हूँ, इसी शक्ति से इसका पालन करता हूँ और इसीसे इसको अपने में लीन करता हूँ। अतः तप ही वास्तविक शक्ति है।

**तात्पर्य :** तपस्या करते समय मनुष्य को भगवान् के धाम लौट जाने का संकल्प करना चाहिए और इसके लिए सभी प्रकार के कष्ट सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। भौतिक सम्पत्ति, नाम तथा यश के लिए भी तो कठिन तपस्या करनी पड़ती है, क्योंकि उसके बिना कोई भी भौतिक संसार में प्रसिद्ध नहीं हो सकता। तो फिर, भक्ति की सिद्धि के लिए ही कठिन तपस्या क्यों करनी होती है? सुविधासम्पन्न जीवन तथा दिव्य साक्षात्कार के लिए सिद्धि की प्राप्ति दोनों साथ-साथ सम्भव नहीं हैं। भगवान् जीवात्मा से अधिक चतुर हैं, अतः वे देखना चाहते हैं कि भक्ति-मय सेवा के लिए भक्त कितना कष्ट उठाता है। तपस्या का आदेश भगवान् से सीधे या प्रामाणिक गुरु के माध्यम से प्राप्त होता है और यह आदेश आपको चाहे कितना ही कष्ट-प्रद क्यों न हो इसका पालन करना ही कठिन तपस्या है। जो इस नियम का दृढ़ता से पालन करता है उसे निश्चित रूप से भगवान् की कृपा प्राप्त करने में सफलता प्राप्त होती है।

*ब्रह्मोवाच*

भगवन् सर्व-भूतानामध्यक्षोऽवस्थितो गुहाम् ।

वेद ह्यप्रतिरुद्धेन प्रज्ञानेन चिकीर्षितम् ॥ २५ ॥

**शब्दार्थ**

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; भगवन्—हे भगवान्; सर्व भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं का; अध्यक्षः—नियन्ता; अवस्थितः—स्थित; गुहाम्—हृदय के भीतर; वेद—जानो; हि—निश्चय ही; अप्रतिरुद्धेन—बिना बाधा के; प्रज्ञानेन—अन्तःज्ञान द्वारा; चिकीर्षितम्—प्रयास करता है।

ब्रह्माजी ने कहा, हे भगवान्, आप प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में परम नियन्ता के रूप में स्थित हैं, अतः आप किसी भी प्रकार की बाधा के बिना अपने अन्तः-ज्ञान ( प्रज्ञा ) द्वारा समस्त प्रयासों से अवगत हैं।

**तात्पर्य :** भगवद्गीता पुष्टि करती है कि भगवान् साक्षी रूप से प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित हैं, फलस्वरूप वे परम नियन्ता हैं। नियन्ता कर्मफलों का भोक्ता नहीं है, क्योंकि उनकी स्वीकृति के बिना कोई सुख नहीं भोग सकता। उदाहरणार्थ, निषिद्ध क्षेत्र का अभ्यस्त शराबी शराब के निदेशक को



आवेदन पत्र भेजता है और निदेशक आवेदन पत्र पर विचार करके शराब की कुछ मात्रा की स्वीकृति देता है। इसी प्रकार यह संसार मानो ऐसे ही शराबियों से भरा पड़ा है प्रत्येक जीवात्मा कुछ-न-कुछ चाहता है और प्रत्येक जीवात्मा उसकी पूर्ति के लिए व्यग्र रहता है। जिस प्रकार पिता पुत्र पर दयालु होता है उसी प्रकार परमेश्वर प्रत्येक जीवात्मा पर सदय होने के कारण उसकी बचकानी इच्छाओं की पूर्ति करता रहता है। मन में ऐसी इच्छाओं को लेकर जीवात्मा वास्तव में कभी भी उन्हें भोग नहीं पाता, बल्कि बिना किसी लाभ के व्यर्थ की शारीरिक सनकों को पूरा करता है। शराबी को शराब पीने से कोई लाभ नहीं मिलता, किन्तु लत पड़ने के कारण वह उसका दास बनकर उससे छुटकारा नहीं चाहता, अतः दयालु भगवान् उसकी इच्छाओं की पूर्ति के लिए उसे सारी सुविधाएँ प्रदान कर देते हैं।

निर्विशेषवादी चाहते हैं कि मनुष्य इच्छारहित हो और अन्य लोग इच्छाओं का पूर्ण दमन चाहते हैं। यह असम्भव है इच्छाओं का लोप नहीं हो सकता, क्योंकि इच्छा करना जीवन का लक्षण है। इच्छाओं के बिना जीवात्मा मृत हो जाएगा, जो वह नहीं है। अतः जीवन तथा इच्छाएँ साथ-साथ हैं। यदि मनुष्य ईश्वर की सेवा करने की इच्छा करता है, तो इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है और ईश्वर भी चाहते हैं कि जीवात्मा अपनी निजी इच्छाएँ त्यागकर उनकी इच्छाओं के साथ सहयोग करे। यही *भगवद्गीता* का अन्तिम उपदेश है। ब्रह्माजी ने इस प्रस्ताव को माना और इसलिए शून्य ब्रह्माण्ड में सृष्टि करने का उन्हें उत्तरदायित्व सौंपा गया। अतः ईश्वर के साथ तादात्म्य का अर्थ है भगवान् की इच्छाओं के साथ अपनी इच्छाओं को जोड़ना। इसीसे समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है।

प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में स्थित होने के कारण भगवान् को हर एक के मन की बात ज्ञात रहती है और कोई भी व्यक्ति अन्तःस्थित भगवान् की जानकारी के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। अपनी श्रेष्ठ प्रज्ञा द्वारा भगवान् सबको अपनी इच्छा-पूर्ति का पूर्णरूपेण अवसर प्रदान करते हैं और तदनुरूप फल भी भगवान् द्वारा ही दिया जाता है।

तथापि नाथमानस्य नाथ नाथय नाथितम् ।

परावरे यथा रूपे जानीयां ते त्वरूपिणः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

तथा अपि—फिर भी; नाथमानस्य—याचक का; नाथ—हे भगवान्; नाथय—प्रदान करो; नाथितम्—इच्छत; पर-अवरे—संसारी तथा दिव्य विषयों में; यथा—जिस प्रकार; रूपे—रूप में; जानीयाम्—जान सकूँ; ते—तुम्हारा; तु—लेकिन; अरूपिणः—निराकार ।

तथापि हे भगवान्, मेरी आपसे प्रार्थना है कि मेरी इच्छा पूरी करें। कृपया मुझे बताएँ कि दिव्य रूप के होते हुए भी आप संसारी रूप किस प्रकार धारण करते हैं, यद्यपि आपका ऐसा कोई रूप नहीं होता।

यथात्म-माया-योगेन नाना-शक्त्युपबृंहितम् ।

विलुम्पन् विसृजन् गृह्णन् बिभ्रदात्मानमात्मना ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; आत्म—स्व; माया—शक्ति; योगेन—संयोग से; नाना—विविध; शक्ति—शक्ति; उपबृंहितम्—संचय द्वारा; विलुम्पन्—संहार के लिए; विसृजन्—सृष्टि के लिए; गृह्णन्—स्वीकृति के लिए; बिभ्रत्—पालन के लिए; आत्मानम्—अपने आप को; आत्मना—अपने द्वारा ।

तथा कृपा करके मुझे यह भी बताएँ कि आप अपने से किस प्रकार से विभिन्न संयोगों के द्वारा संहार, उत्पत्ति, स्वीकृति तथा पालन की विविध शक्तियों को प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : यह सारा संसार भगवान् की विभिन्न शक्तियों—अन्तरंगा, बहिरंगा तथा तटस्था शक्तियों—के प्रसार से साक्षात् भगवान् है, जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सूर्यलोक की शक्ति का प्राकट्य है। ऐसी शक्ति भगवान् से तदाकार है और भिन्न भी है, जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश सूर्यलोक से अभिन्न होकर भी भिन्न रहता है। ये शक्तियाँ विविध संयोगों के द्वारा भगवान् के संकेत पर कार्य करती हैं और ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव जैसे प्रतिनिधि कर्ता भी भगवान् के विभिन्न अवतार हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है फिर भी वे ऐसे प्रकट कार्यों से पृथक् है। यह किस प्रकार से होता है, इसकी व्याख्या बाद में की जाएगी।

क्रीडस्यमोघ-सङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते ।

तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

क्रीडसि—जिस प्रकार खिलवाड़ करते हो; अमोघ—अचूक; सङ्कल्प—निश्चय; ऊर्णनाभिः—मकड़ी; यथा—जिस प्रकार; ऊर्णुते—ढक लेती है; तथा—उसी प्रकार; तत्-विषयाम्—उनके विषय में; धेहि—मुझे बताएँ; मनीषाम्—दार्शनिक विधि से; मयि—मुझको; माधव—समस्त शक्तियों के स्वामी ।

हे माधव, मुझे उन सबके विषय में दार्शनिक विधि से बताएँ। आप मकड़ी के समान खेल

करने वाले हैं, जो अपनी ही शक्ति से अपने को ढक लेती है। आपका संकल्प अचूक है।

**तात्पर्य :** भगवान् की अकल्पनीय शक्ति से प्रत्येक तत्त्व में उसकी निजी शक्तियाँ होती हैं, जिन्हें तत्त्व-शक्ति, ज्ञान-शक्ति तथा कार्य-कारण की शक्ति कहते हैं। भगवान् की ऐसी शक्तियों के संयोग से यथासमय सृष्टि, पालन तथा संहार का प्राकट्य होता है जिनके विभिन्न कर्ता ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर हैं। ब्रह्मा सृष्टिकर्ता हैं, विष्णु पालनकर्ता हैं और शिव संहारकर्ता हैं। किन्तु ये सभी कर्ता तथा शक्तियाँ भगवान् के ही प्रतिकप हैं, अतः भगवान् के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, अथवा विभिन्न विविधताओं का एक ही परम स्रोत है। इसका सही उदाहरण मकड़ी तथा मकड़ी का जाला है। यह जाला मकड़ी द्वारा बना जाता है, उसी के द्वारा उसकी रक्षा की जाती है और जब मकड़ी की इच्छा होती है, तो वह उसे अपने भीतर समेट लेती है। मकड़ी जाले के भीतर ढकी रहती है। यदि एक तुच्छ मकड़ी अपनी इच्छानुसार कार्य करने की इतनी शक्ति रखती है, तो फिर परमात्मा अपनी परम इच्छा से सांसारिक प्राकट्य के सृजन, पालन तथा संहार का कार्य क्यों नहीं कर सकते? भगवत्कृपा से ही ब्रह्मा जैसा कोई भक्त या उन्हीं के समान शिष्य-परम्परा में से कोई अन्य भक्त सर्वशक्ति-मान भगवान् को समझ सकता है, जो विभिन्न शक्तियों के द्वारा अपनी दिव्य लीलाओं में नित्य लगे रहते हैं।

**भगवच्छिक्षितमहं करवाणि ह्यतन्द्रितः ।**

**नेहमानः प्रजा-सर्गं बध्येयं यदनुग्रहात् ॥ २९ ॥**

**शब्दार्थ**

भगवत्—भगवान् द्वारा; शिक्षितम्—शिक्षा प्राप्त; अहम्—मैं; करवाणि—कार्य के द्वारा; हि—निश्चय ही; अतन्द्रितः—कारणस्वरूप; न—कभी नहीं; इहमानः—यद्यपि कार्य करते हुए; प्रजा-सर्गम्—जीवात्माओं की उत्पत्ति; बध्येयम्—बद्ध होऊँ; यत्—जिससे; अनुग्रहात्—कृपा से।

कृपा करके मुझे बतलाएँ जिससे आपकी आज्ञानुसार मैं इस विषय की शिक्षा प्राप्त कर सकूँ और इस तरह ऐसे कार्यों से आबद्ध हुए बिना जीवात्माओं को यंत्रवत् उत्पन्न करने का कार्य करता रहूँ।

**तात्पर्य :** ब्रह्माजी नहीं चाहते कि वे अपने निजी ज्ञान पर आश्रित रहने वाले शुष्क चिन्तक बने रहें और भौतिक बन्धन में फँसे रहें। हर एक व्यक्ति को यह समझ लेना चाहिए कि समस्त कार्यों के सम्पादन में वह निमित्त (कारण) मात्र होता है। बद्धजीव बाह्यशक्ति अर्थात् गुणमयी माया के हाथों की

कठपुतली बना रहता है और मुक्त होते समय वह सीधे भगवान् की इच्छा पर आश्रित रहता है। भगवान् की प्रत्यक्ष इच्छा पर आश्रित रहना जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति है, जबकि गुणमयी माया के हाथों की कठपुतली होना भवबन्धन है। उस बद्ध अवस्था में जीवात्मा परम सत्य भगवान् तथा उनके विविध कार्यकलापों का चिन्तन करता है, किन्तु अबद्ध (मुक्त) अवस्था में जीवात्मा को सीधे भगवान् से ज्ञान प्राप्त होता है और ऐसा मुक्त जीव बिना कल्पना किये, बिना त्रुटि के, कार्य करता है। *भगवद्गीता* (१०.१०-११) में इसकी दृढ़तापूर्वक पुष्टि की गई है कि भगवान् स्वयं उपदेश देते हैं जिससे शुद्ध भक्तगण, जो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में रत हैं, बिना उगमगाये भगवान् के धाम की ओर अग्रसर होते रहते हैं। अतः शुद्ध भक्तों को अपनी निश्चित प्रगति पर किसी प्रकार का गर्व नहीं रहता, जबकि अभक्त ज्ञानी सदा ही माया के अन्धकार में रहता है और बिना किसी निश्चित पथ के कल्पना पर आधारित पथभ्रष्ट ज्ञान पर इतराता रहता है। ब्रह्माजी अहंकार के उस गर्त से बचना चाहते थे, यद्यपि वे ब्रह्माण्ड में सबसे उच्च पद पर आरूढ़ थे।

यावत् सखा सख्युरिवेश ते कृतः

प्रजा-विसर्गे विभजामि भो जनम् ।

अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो

मा मे समुन्नद्ध-मदोऽजमानिनः ॥ ३० ॥

**शब्दार्थ**

यावत्—चूँकि; सखा—मित्र; सख्युः—मित्र को; इव—समान; ईश—हे भगवान्; ते—तुम; कृतः—स्वीकार किया है; प्रजा—जीवात्माएँ; विसर्गे—सृष्टि के कार्य में; विभजामि—क्योंकि मैं इसे भिन्न रीति से करूँगा; भोः—हे भगवान्; जनम्—जन्म लेने वाले; अविक्लवः—विचलित हुए बिना; ते—तुम्हारा; परिकर्मणि—सेवा कार्य में; स्थितः—स्थित; मा—कभी न हो; मे—मुझको; समुन्नद्ध—उदय होने पर; मदः—उन्माद; अज—हे अजन्मा; मानिनः—ऐसे माने जाने वाले।

हे अजन्मा भगवान्, आपने मुझसे उसी प्रकार हाथ मिलाया है, जिस प्रकार कोई मित्र अपने मित्र से मिलाता है ( मानो पद में समान हो )। अब मैं विभिन्न जीवात्माओं की सृष्टि करने में लगूँगा और आपकी सेवा करता रहूँगा। मैं किसी तरह विचलित नहीं होऊँगा। किन्तु मेरी प्रार्थना है कि कहीं इन सबसे मुझे गर्व न हो जाय कि मैं ही परमेश्वर हूँ।

**तात्पर्य :** ब्रह्माजी भगवान् के साथ निश्चय ही सख्यभाव में स्थित हैं। प्रत्येक जीव भगवान् के साथ पाँच विभिन्न दिव्य भावों में से किसी न किसी एक के द्वारा नित्य रूप से सम्बद्ध है। ये हैं—शान्त,

दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। हम भगवान् के प्रसंग में इन पाँचों भावों की व्याख्या पहले ही कर चुके हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट है कि ब्रह्माजी भगवान् के साथ दिव्य सख्यभाव में स्थित थे। शुद्ध भक्त भगवान् से इन पाँचों में से किसी एक भाव से बँधा हो सकता है। वह वात्सल्य भाव भी हो सकता है, किन्तु भगवद्भक्त सदैव भगवान् का दिव्य दास (सेवक) होता है। कोई न तो उनके समान है, न उनसे बढ़कर। यही *भगवद्गीता* की उक्ति है। यद्यपि भगवान् के साथ ब्रह्माजी का सख्यभाव है और उन पर विभिन्न योनि वाले जीवों को उत्पन्न करने का सर्वोच्च पद भार सौंपा गया है, किन्तु उन्हें अपनी स्थिति का बोध निरन्तर बना रहता है कि वे न तो परमेश्वर हैं न परम शक्तिसम्पन्न। सम्भव है कि इस ब्रह्माण्ड में या इसके बाहर कोई अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति भगवान् से भी अधिक शक्तिशाली निकल आए। फिर भी शुद्ध भक्त जानता है कि यह शक्ति तो भगवान् द्वारा प्रदत्त विभूति है और ऐसी शक्ति से युक्त जीवात्मा कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। श्रीहनुमानजी ने कूद कर समुद्र पार कर लिया था, किन्तु श्रीरामचन्द्र ने सेतु पर चढ़कर ही पार किया जिसका अर्थ यह नहीं है कि हनुमानजी उनसे अधिक बलशाली थे। कभी-कभी भगवान् भक्त को असामान्य शक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु भक्त हमेशा जानता रहता है कि यह शक्ति भगवान् की ही है और वह स्वयं एक निमित्त मात्र है। भक्त कभी भी उन अभक्तों के समान फूला फूला नहीं फिरता जो भ्रमवश अपने को भगवान् मान लेते हैं। यह आश्चर्यजनक बात है कि जो व्यक्ति भगवान् की माया के नियमों के द्वारा पग-पग पर पाद-प्रहार पाता है, वह भगवान् से तदाकार होने की झूठी बात सोचे। इस प्रकार सोचना बद्धजीवों के ऊपर फेंका गया माया का आखिरी पाश होता है। पहली भ्रांति यह होती है कि वह सम्पत्ति एवं शक्ति बटोरकर संसार का स्वामी बनना चाहता है, किन्तु जब वह इस प्रयास में हताश हो जाता है, तो भगवान् के साथ तदाकार होना चाहता है। इस प्रकार संसार का सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति बनना और भगवान् से तादात्म्य करना माया के ही भिन्न-भिन्न जाल हैं। चूँकि भगवान् के शुद्ध भक्त शरणागत होते हैं, अतः वे माया के मोह पाश से ऊपर हैं। किन्तु ब्रह्माजी शुद्ध भक्त होने के कारण अल्पज्ञानी अभक्तों को भगवान् से तादात्म्य की बात के बारे में सोचना कभी पसन्द नहीं करते यद्यपि वे विश्व के आदि देव हैं और अनेक अद्भुत कार्य करने में सक्षम हैं। अल्पज्ञानियों को, जब वे ईश्वर होने के झूठे विचार से फूल

उठते हैं, ब्रह्माजी से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

वस्तुतः ब्रह्माजी जीवात्माओं को उत्पन्न नहीं करते। उन्हें सृष्टि के प्रारम्भ में यह अधिकार दिया गया कि वे जीवात्माओं को पूर्व कल्प में किये गये कर्मों के अनुसार शरीर प्रदान करें। ब्रह्माजी का कार्य इन जीवात्माओं को निद्रा से जगाकर उन्हें उनके समुचित कार्यों में लगाना है। ब्रह्माजी जीवात्माओं की सृष्टि मनमाने ढंग से नहीं करते, अपितु उन्हें विविध प्रकार के शरीर प्रदान करने का कार्यभार सौंपा जाता है, जिससे वे तदनुसार कर्म कर सकें। इतने पर भी ब्रह्माजी को इसका बोध बना रहता है कि वे निमित्तमात्र हैं जिससे वे अपने को परमेश्वर न मान बैठें।

भक्तजन भगवान् द्वारा प्रदत्त कार्यों में संलग्न रहते हैं और ऐसे कार्य निर्बाध चलते रहते हैं, क्योंकि भगवान् से आदेश जो प्राप्त है। सफलता का श्रेय कर्ता को नहीं बल्कि भगवान् को मिलता है। किन्तु जो अल्पज्ञ हैं, वे सफलता का कारण अपने को मानते हैं और भगवान् को कोई श्रेय नहीं देते। यह अभक्त पुरुषों का लक्षण है।

श्री-भगवानुवाच

ज्ञानं परम-गुह्यं मे यद् विज्ञान-समन्वितम् ।

सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; ज्ञानम्—प्राप्त ज्ञान; परम—अत्यधिक; गुह्यम्—गोपनीय; मे—मेरा; यत्—जो; विज्ञान—बोध; समन्वितम्—से युक्त; स-रहस्यम्—भक्ति सहित; तत्—उसकी; अङ्गम् च—आवश्यक सामग्री; गृहाण—ग्रहण करने का यत्न करो; गदितम्—व्याख्या की गई; मया—मेरे द्वारा।

श्रीभगवान् ने कहा—शास्त्रों में वर्णित मुझसे सम्बन्धित ज्ञान अत्यन्त गोपनीय है उसे भक्ति के समन्वय द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस विधि के लिए आवश्यक सामग्री की व्याख्या मेरे द्वारा की जा चुकी है। तुम इसे ध्यानपूर्वक ग्रहण करो।

तात्पर्य : ब्रह्माजी इस ब्रह्माण्ड में भगवान् के सर्वोच्च भक्त हैं, अतः भगवान् ने उनके चार प्रश्नों का उत्तर चार महत्त्वपूर्ण वक्तव्यों के रूप में दिया है, जो चतुःश्लोकी मूल भागवत के नाम से ज्ञात हैं। ब्रह्माजी के प्रश्न इस प्रकार थे—(१) पदार्थ में तथा अध्यात्म में भगवान् के कौन-कौन से रूप हैं? (२) भगवान् की विभिन्न शक्तियाँ किस प्रकार कार्य करती हैं? (३) भगवान् अपनी शक्तियों को किस

प्रकार संचालित करते हैं? (४) ब्रह्मा को उन्हें सौंपे गये कार्य के सम्बन्ध में किस प्रकार आदेशित किया जाय? इन प्रश्नों का पूर्वाभास इस श्लोक में मिलता है। भगवान् ब्रह्मा को सूचित करते हैं कि शास्त्रों में वर्णित भगवान् विषयक ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है और जब तक कोई भगवत्कृपा से स्वरूपसिद्ध न हो, इसे समझ नहीं सकता। भगवान् कहते हैं कि जिस तरह वे व्याख्या करते जाँए उसे वे उत्तर के रूप में ग्रहण करते जाँय। इसका अर्थ यह हुआ कि परमेश्वर सम्बन्धी दिव्य ज्ञान को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब भगवान् स्वयं उसे प्रदान करें। बड़े से बड़े संसारी चिन्तक भी चिन्तन द्वारा परम सत्य भगवान् को नहीं समझ पाते। चिन्तन से निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार तो हो सकता है, किन्तु वस्तुतः पूर्ण दिव्य ज्ञान तो निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान के परे है। इसीलिए इसे परम गुह्य ज्ञान कहा गया है। अनेक मुक्त जीवों में से विरला ही भगवान् को जान पाने का अधिकारी होता है। *भगवद्गीता* में भी स्वयं भगवान् ने कहा है कि लाखों में से कोई एक मनुष्य सिद्धि प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और अनेक मुक्त जीवों में से कोई एक ही उन्हें जान पाता है। अतः केवल भक्ति द्वारा ही भगवान् को जाना जा सकता है। *रहस्यम्* का अर्थ है भगवद्भक्ति। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को *भगवद्गीता* का उपदेश इसीलिए दिया, क्योंकि अर्जुन उनका भक्त तथा मित्र था। ऐसी योग्यता के बिना *भगवद्गीता* के रहस्य को नहीं समझा जा सकता। अतः जब तक कोई भक्त बन कर भक्तिमय सेवा नहीं करने लगता, तब तक वह श्रीभगवान् को समझ नहीं पाता। यह रहस्य ईश्वर प्रेम है। श्रीभगवान् को जानने का रहस्य इस योग्यता में निहित है। ईश्वर के दिव्य प्रेम को प्राप्त करने के लिए भक्ति सम्बन्धी विधि-विधानों का पालन आवश्यक है। इन विधि-विधानों को *विधि-भक्ति* कहा जाता है और नवदीक्षित भक्त अपनी वर्तमान इन्द्रियों से इनका पालन कर सकता है। ऐसे विधि-विधान मुख्यतः भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन पर आधारित हैं जिनका पालन भक्तों की संगति द्वारा ही सम्भव है। फलतः भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् की भक्ति में पूर्णता पाने के लिए पाँच मुख्य नियमों की संस्तुति की है। पहला है— भक्तों की संगति (श्रवण), दूसरा भगवान् की महिमा का कीर्तन, तीसरा है, शुद्ध भक्त से *श्रीमद्भागवत* सुनना, चौथा भगवान् से सम्बन्धित किसी पवित्र स्थान में वास करना तथा पाँचवा है भक्ति सहित भगवान् के श्रीविग्रहको पूजना। ऐसे विधि-विधान भक्ति-मय सेवा के अंगस्वरूप हैं। अतः ब्रह्माजी की

प्रार्थना के अनुसार भगवान् इन चारों प्रश्नों तथा इनके अंगभूत प्रश्नों के विषय में अपनी व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

यावानहं यथा-भावो यद्रूप-गुण-कर्मकः ।

तथैव तत्त्व-विज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यावान्—मेरे जितने दिव्य रूप हैं; अहम्—मैं; यथा—जिस प्रकार; भावः—दिव्य अस्तित्व; यत्—उन; रूप—विभिन्न रूप तथा रंग; गुण—गुण; कर्मकः—कार्य; तथा—उसी प्रकार से; एव—निश्चय ही; तत्त्व-विज्ञानम्—वास्तविक बोध; अस्तु—हो; ते—तुमको; मत्—मेरी; अनुग्रहात्—अहैतुकी कृपा से।

मेरी अहैतुकी कृपा से तुम्हारे अन्तःकरण में उदय होने वाले वास्तविक बोध से तुम्हें मेरे विषय में सब कुछ—मेरा वास्तविक शाश्वत रूप तथा मेरा दिव्य अस्तित्व, रंग, गुण तथा कार्य—ज्ञात हो सकेगा।

तात्पर्य : परम सत्य, भगवान् विषयक ज्ञान की दुरूहता को समझने में सफलता का रहस्य भगवान् की अहैतुकी कृपा है। भौतिक जगत में भी जिस प्रकार अनेक पुत्रों का पिता अपने किन्हीं लाड़ले पुत्रों को ही अपने पद का रहस्य बताता है। पुत्रों में से जिसे वह योग्य समझता है उससे ही रहस्योद्घाटन करता है। समाज में महत्त्वपूर्ण मनुष्य अपनी दयालुता के द्वारा जाना जाता है। इसी प्रकार भगवान् को जानने के लिए मनुष्य को उनका अत्यन्त लाड़ला होना चाहिए। भगवान् असीम हैं। कोई भी उन्हें पूरी तरह नहीं जान सकता, केवल भगवान् के प्रति प्रेमाभक्ति की उन्नति के सहारे ही भगवान् को जानने के लिए प्रिय पात्र बना जा सकता है। यहाँ हम देखते हैं कि भगवान् ब्रह्माजी पर अत्यन्त प्रसन्न हैं, अतः वे उन्हें अपनी अहैतुकी कृपा प्रदान करते हैं, जिससे वे भगवान् का वास्तविक बोध प्राप्त कर सकें।

वेदों में भी कहा गया है कि कोई मनुष्य केवल सांसारिक शिक्षा या बौद्धिक अभ्यास से परम सत्य, परमेश्वर को नहीं जान सकता। प्रामाणिक गुरु तथा भगवान् में अटल विश्वास होने पर ही परम सत्य परमेश्वर को जाना जा सकता है। ऐसा श्रद्धालु व्यक्ति भले ही सांसारिक दृष्टि से अशिक्षित क्यों न हो, भगवत्कृपा से भगवान् को स्वतः जान सकता है। *भगवद्गीता* में भी कहा गया है कि यह भगवान् पर निर्भर करता है कि वे किसके समक्ष प्रकट हों और किसके समक्ष नहीं। वे अपनी योगमाया शक्ति



से अपने को अश्रद्धालुओं से छिपा कर रखते हैं।

जो श्रद्धालु हैं उनके समक्ष भगवान् अपना रूप, गुण तथा लीलाएँ प्रकट करते हैं। भगवान् निर्विशेष नहीं हैं जैसाकि निर्विशेषवादी सोचते हैं, किन्तु उनका वह रूप नहीं होता जिसका हमें अनुभव प्राप्त है। वे अपने भक्तों के समक्ष अपना रूप, यहाँ तक कि अपनी प्रमाप, भी प्रकट करते हैं और *यावान्* का यही अर्थ है जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के महान् पंडित श्रील जीव गोस्वामी ने बताया है।

भगवान् अपने अस्तित्व की दिव्य प्रकृति को उद्घाटित करते हैं। संसारी विवादक भगवान् के रूप की संसारी अवधारणा बनाते हैं। शास्त्रों में बताया गया है कि भगवान् का कोई संसारी रूप नहीं है, अतः जो अल्पज्ञानी हैं, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भगवान् निराकार (निर्विशेष) हैं। वे संसारी तथा आध्यात्मिक रूप में अन्तर नहीं कर पाते। उनके अनुसार जिसका भौतिक रूप नहीं है, वह निर्विशेष होगा। यह निष्कर्ष भी संसारी है, क्योंकि रूपहीनता रूप की विपरीत अवधारणा है। संसारी अवधारणा को नकारने से दिव्य स्वरूप स्थापित नहीं होता। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि भगवान् का दिव्य रूप होता है और वे अपनी इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय का उपयोग किसी भी कार्य के लिए कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, वे अपने नेत्रों से भोजन कर सकते हैं और अपने पाँव से देख सकते हैं। रूप की संसारी धारणा में कोई न तो आँख से खा सकता है, न ही पाँव से देख सकता है। संसारी शरीर तथा सच्चिदानन्द के दिव्य शरीर में यही अन्तर है। आध्यात्मिक शरीर रूपविहीन नहीं होता; यह भिन्न प्रकार का होता है, जिसके विषय में हम अपनी संसारी इन्द्रियों से धारणा नहीं बना सकते। अतः रूपविहीन का अर्थ है संसारी रूप से रहित अथवा दिव्य शरीर धारण करने वाला जिसके विषय में अभक्तों को काल्पनिक विधि द्वारा बोध नहीं हो पाता।

भगवान् अपने भक्तों के समक्ष अनन्त प्रकार के दिव्य शरीर प्रकट करते रहते हैं, जो एक दूसरे के समान होते हुए भी स्वरूपों में भिन्न होते हैं। भगवान् के कुछ दिव्य शरीर श्यामवर्ण होते हैं, तो कुछ श्वेत वर्ण। कुछ लाल-लाल होते हैं, तो कुछ पीतवर्ण। कुछ चतुर्भुजी होते हैं, तो कुछ दो भुजाओं से युक्त। इनमें से कुछ मछली की तरह होते हैं, तो कुछ सिंह के समान। भगवान् के ये विभिन्न दिव्य रूप भगवत्कृपा से ही भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं और इस प्रकार निर्विशेषवादियों के ये झूठे तर्क कि

भगवान् के रूप नहीं होता, भगवद्भक्तों को नहीं भाते, भले ही वे भक्त भक्ति में बहुत बड़े-चढ़े न हों।

भगवान् में अनगिनत दिव्य गुण पाये जाते हैं। इनमें से एक है शुद्ध भक्त के प्रति उनका प्रेम। इस संसार के इतिहास में हम उनके दिव्य गुणों की सराहना कर सकते हैं। भगवान् अपने भक्तों की रक्षा करने तथा अधर्मियों का विनाश करने के लिए अवतरित होते हैं। उनके सारे कार्य भक्तों से सम्बन्धित होते हैं। श्रीमद्भागवत भक्तों से सम्बद्ध भगवान् के ऐसे अनेक कार्यों से भरा पड़ा है, किन्तु अभक्तों को भगवान् की इन लीलाओं का कोई ज्ञान भी नहीं होता। जब भगवान् सात वर्ष के ही थे तो उन्होंने गोवर्धन पर्वत उठाकर वृन्दावन के अपने शुद्ध भक्तों को इन्द्र के कोप से बचाया था, जो वर्षा के द्वारा उस स्थान को आप्लावित कर रहा था। सात वर्ष के बालक द्वारा गोवर्धन पर्वत का उठाया जाना भले ही श्रद्धाविहीनों के लिए अविश्वसनीय लगे, किन्तु भक्तों के लिए यह सर्वथा विश्वसनीय है। भक्त को भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास है, किन्तु श्रद्धाविहीन लोग भगवान् को सर्वशक्तिमान मानते हुए भी इस पर विश्वास नहीं करते। ऐसे अल्पज्ञानी यह नहीं समझते कि भगवान् तो शाश्वत रूप से भगवान् हैं और वे लोग लाखों करोड़ों वर्षों तक ध्यान या दार्शनिक चिन्तन करके भी भगवान् नहीं बन सकते।

इस श्लोक से संसारी विवादकों की निर्विशेष व्याख्या का खण्डन हो जाता है, क्योंकि यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि मनुष्य की ही तरह भगवान् के भी गुण, रूप, लीलाएँ तथा कार्य होते हैं। भगवान् की दिव्य प्रकृति के ये सारे विवरण भगवद्भक्तों द्वारा अनुभूत तथ्य हैं। ये भगवत्कृपा से केवल शुद्ध भक्तों को ही ज्ञात हो पाते हैं, अन्य किसी को नहीं।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम् ।

पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं, भगवान्; एव—निश्चय ही; आसम्—था; एव—केवल; अग्रे—सृष्टि के पहिले; न—कभी नहीं; अन्यत्—अन्य कुछ; यत्—जो; सत्—कार्य; असत्—कारण; परम्—परम; पश्चात्—अन्त में; अहम्—मैं भगवान्; यत्—ये सब; एतत्—सृष्टि; च—भी; यः—प्रत्येक वस्तु; अवशिष्येत—बचा रहता है; सः—वह; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं, भगवान्।

हे ब्रह्मा, वह मैं ही हूँ जो सृष्टि के पूर्व विद्यमान था, जब मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। तब इस सृष्टि की कारणस्वरूपा भौतिक प्रकृति भी नहीं थी। जिसे तुम अब देख रहे हो, वह भी मैं ही हूँ और प्रलय के बाद जो शेष रहेगा वह भी मैं ही हूँ।

**तात्पर्य :** हमें ध्यान देना होगा कि ब्रह्माको पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सम्बोधित कर रहे हैं और पुरजोर शब्दों में स्वयं स्पष्ट कर रहे हैं कि मैं ही वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हूँ, जो सृष्टि के पूर्व विद्यमान था, मैं ही सृष्टि का पालनकर्ता हूँ और प्रलय के पश्चात् मैं ही बचा रहता हूँ। ब्रह्मा भी इन्हीं परमेश्वर की सृष्टि हैं। निर्विशेषवादी तादात्म्य का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि ब्रह्मा भगवान् के समरूप हैं, क्योंकि वे भी परम सत्य “मैं” से उद्भूत “मैं” हैं, अतः जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है “मैं” के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। निर्विशेषवादियों के तर्क को मानते हुए यह स्वीकार करना होगा कि भगवान् स्रष्टा “मैं” हैं और ब्रह्मा सृष्ट “मैं”। अतः इन दोनों “मैं” के बीच अन्तर है—अधिष्ठाता मैं तथा अधीनस्थ मैं। अतः निर्विशेषवादियों के तर्क को मान लेने पर भी दो “मैं” रहते हैं। किन्तु हमें यह ध्यान देना होगा कि वैदिक साहित्य ( *कठोपनिषद्* ) में ये दो “मैं” गुण के अर्थ में स्वीकृत हैं। *कठोपनिषद्* का वचन है—

*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् ।*

*एको बहूनां यो विदधाति कामान् ॥*

वेदों में स्रष्टा “मैं” तथा सृष्ट “मैं” दोनों ही गुणात्मक रूप से एक हैं, क्योंकि ये दोनों ही नित्य और चेतन हैं। किन्तु एकवचन “मैं” स्रष्टा “मैं” है और सृष्ट “मैं” बहुवचन में है, क्योंकि ब्रह्मा तथा उनके द्वारा सृजित अनेक “मैं” हैं। यही सामान्य सत्य है। पिता से पहले एक पुत्र उत्पन्न होता है, इस पुत्र से कई पुत्र उत्पन्न होते हैं और वे सभी मानव प्राणी के रूप में एक हैं, किन्तु पुत्र तथा पौत्र, पिता से भिन्न भी हैं। पुत्र पिता का स्थान नहीं ग्रहण कर सकता है और न पौत्र ही। इस प्रकार पिता, पुत्र तथा पौत्र एक होते हुए भी पृथक् हैं। इसीलिए स्रष्टा तथा सृष्ट का आपेक्षिक अन्तर वेदों में यह कह कर किया गया है कि अधिष्ठाता “मैं” अधीनस्थ “मैं” का पोषक है और इस प्रकार दोनों “मैं” के बीच व्यापक अन्तर है।

इस श्लोक की दूसरी विशेषता यह है कि भगवान् तथा ब्रह्मा दोनों के व्यक्तित्वों को नकारा नहीं जा सकता। फलतः अधिष्ठाता और अधीनस्थ अन्ततोगत्वा दोनों ही व्यक्ति हैं। इससे निर्विशेषवादियों के इस मत का खण्डन हो जाता है कि अन्ततः प्रत्येक वस्तु निराकार है। अल्पज्ञ निर्विशेषवादियों द्वारा

बहुसमर्थित निर्विशेष रूप का खण्डन इसलिए हो जाता है कि प्रधान “मैं” परम सत्य है और वह व्यक्ति है। ब्रह्मा, जो अधीनस्थ “मैं” है, वह भी व्यक्ति है, किन्तु भगवान् नहीं है। आध्यात्मिक मनोविज्ञान ‘स्व’ का बोध अपने आपको परम सत्य मानने में भले ही सुविधा प्रधान करने वाला हो, किन्तु प्रधान तथा आश्रित में अन्तर सदैव रहता है, जिसकी ओर इस श्लोक में स्पष्टतः इंगित है और जिसका निर्विशेषवादी अत्यधिक दुरुपयोग करते हैं। ब्रह्मा अपने समक्ष अपने अधिष्ठाता स्वामी को देख रहे हैं, जो सृष्टि की प्रलय के बाद भी दिव्य रूप में विद्यमान रहते हैं। ब्रह्मा ने जिस रूप का दर्शन किया वह सृष्टि के पहले भी विद्यमान था। संसार में जो कुछ भी दिख रहा है, वह भी भगवान् की शक्ति का विस्तार है और भगवान् की शक्ति के प्रदर्शन के अन्त में जो कुछ बचता है, वह भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् है। अतः भगवान् का रूप, सृष्टि, पालन तथा संहार इन सभी परिस्थितियों में बना रहता है। वैदिक स्तोत्रों में इस कथन की पुष्टि हुई है—*वासुदेवो वा इदम् अग्र आसीन् न ब्रह्मा न च शंकर एको नारायण आसीन्, न ब्रह्मा नेशान* आदि। सृष्टि के पूर्व वासुदेव के अतिरिक्त कुछ नहीं था, न तो ब्रह्मा थे, न शंकर। केवल नारायण थे, कोई दूसरा नहीं, न ब्रह्मा, न ईशान। श्रीपाद शंकराचार्य ने भी *भगवद्गीता* के भाष्य में इसकी पुष्टि की है कि नारायण समस्त सृष्टि से परे हैं और समग्र सृष्टि अव्यक्त का फल है। अतः स्रष्टा तथा सृष्ट में सदैव अन्तर रहता है भले ही दोनों एकसमान गुण वाले क्यों न हों।

इस कथन की तीसरी विशेषता यह है कि भगवान् परम सत्य हैं। श्रीभगवान् तथा उनके धाम की पहले ही व्याख्या की जा चुकी है। भगवान् का धाम शून्य (रिक्त) नहीं है जैसाकि निर्विशेषवादी बताते हैं। वैकुण्ठ लोक विविधता से पूर्ण हैं—उसमें चार भुजाओं वाले निवासी भी हैं जिनके पास विपुल वैभव है और महापुरुषों के पास विमान तथा अन्य सुविधाजनक साधन तक उपलब्ध है। अतः श्रीभगवान् सृष्टि के पूर्व भी स्थित रहते हैं और वे वैकुण्ठ लोक में समस्त दिव्य विविधता के साथ रहते हैं। *भगवद्गीता* में भी इन वैकुण्ठ लोकों को सनातन बताया गया है। ये इस विश्व के संहार के पश्चात् भी नष्ट नहीं होते। ये दिव्य लोक पूरी तरह से भिन्न प्रकृति के हैं; उन पर सृष्टि, पालन तथा संहार के

नियम लागू नहीं होते। भगवान् के अस्तित्व से वैकुण्ठ लोकों का अस्तित्व सिद्ध होता है, जिस प्रकार राजा से राज्य का अस्तित्व सिद्ध होता है।

श्रीमद्भागवत तथा अन्य शास्त्रों में विभिन्न स्थलों पर भगवान् के अस्तित्व का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ, श्रीमद्भागवत (२.८.१०) में महाराज परीक्षित प्रश्न करते हैं—

स चापि यत्र पुरुषो विश्वस्थित्युद्भवाप्ययः ।

मुक्त्वात्ममायां मायेशः शेते सर्वगुहाशयः ॥

“जो भगवान् सृष्टि, पालन तथा संहार के कारणस्वरूप हैं, जो माया के प्रभाव से सदैव मुक्त रहते हैं और उसके नियन्ता हैं, वे किस प्रकार प्रत्येक मनुष्य के हृदय में स्थित रहते हैं?” इसी प्रकार विदुर का भी प्रश्न है—

तत्त्वानां भगवंस्तेषां कतिधा प्रतिसंक्रमः ।

तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरते ॥

( भागवत ३.७.३७ )

श्रीधर स्वामी ने अपनी टिप्पणियों में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है, “सृष्टि के प्रलय के समय शेषशायी भगवान् की सेवा कौन करता है...।” इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान् अपने नाम, यश, गुण तथा सामग्री सहित शाश्वत रूप से विद्यमान हैं। इसी की पुष्टि स्कन्द-पुराण के काशी-खण्ड में ध्रुवचरित के प्रसंग में हुई है।

न च्यवन्तेऽपि यद्भक्ता महत्यां प्रलयापदि ।

अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः सर्वगोऽव्ययः ॥

भगवान् की बात तो और, यहाँ तक कि भगवान् के भक्तों का भी संसार के पूर्ण प्रलय के समय विनष्ट नहीं होता। भगवान् परिवर्तन की तीनों अवस्थाओं में सर्वदा-विद्यमान रहते हैं।

निर्विशेषवादी परमेश्वर पर कर्मरहित होने का आरोप लगाते हैं, किन्तु ब्रह्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की इस वार्ता में भगवान् को रूप तथा गुण से युक्त होने के साथ-ही-साथ कर्मों से युक्त बताया गया है। सृष्टि के पालन के समय ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं के कार्यों को भी भगवान् के कार्य

ही समझना होगा। भले ही राजा या राज्य का कार्यकारी अध्यक्ष सरकारी कार्यालयों में दिखाई न दे और वह राजसी विलास में लगा हो तो भी यह समझा जाता है कि जो कुछ भी हो रहा है, वह उसी के निर्देशन तथा आदेश के अनुसार हो रहा है। भगवान् कभी भी रूपविहीन नहीं होते। भौतिक जगत में वह अल्पज्ञों को भले ही साकार रूप में न दिखे जिससे उसे रूपविहीन कह लिया जाय, किन्तु वे अपने धाम वैकुण्ठ लोक में तथा अपने विभिन्न अवतारों में अन्य विभिन्न लोकों में नित्य रूप में सदैव रहते हैं। इस प्रसंग में सूर्य का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त होगा। रात्रि के समय भले ही मनुष्यों को अँधेरे में सूर्य न दिखे, किन्तु जब सूर्योदय हो जाता है, तो वह दिखता है। यदि पृथ्वी के किसी एक भूभाग पर सूर्य दृष्टिगोचर नहीं होता तो इसका अर्थ यह तो नहीं है कि सूर्य का कोई रूप नहीं है।

बृहदारण्यक उपनिषद् (१.४.१) में एक मन्त्र है— *आत्मैवेदम् अग्र आसीत् पुरुषविधः*। इससे पुरुष अवतार के भी पूर्व पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् (कृष्ण) की उपस्थिति सूचित होती है। *भगवद्गीता* (१५.१८) में कहा गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं, क्योंकि वे परम पुरुष हैं, *पुरुष-अक्षर* तथा *पुरुष-क्षर* से भी परे हैं। अक्षर पुरुष या महाविष्णु प्रकृति पर दृष्टिपात करते हैं, किन्तु पुरुषोत्तम तो उनसे भी पहले से विद्यमान थे। अतः *बृहदारण्यक-उपनिषद्* से *भगवद्गीता* के इस कथन की पुष्टि होती है कि श्रीकृष्ण ही परम पुरुष (पुरुषोत्तम) हैं।

कुछ वेदों में यह भी कहा गया है कि प्रारम्भ में केवल निर्गुण ब्रह्म था। किन्तु इस श्लोक के अनुसार निर्गुण ब्रह्म को, जो परमेश्वर के रूप की चमचमाती दीप्ति है, कारणस्वरूप कहा जा सकता है, क्योंकि समस्त कारणों के कारण तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। भगवान् का निर्गुण रूप भौतिक जगत में इसीलिए विद्यमान है, क्योंकि भौतिक नेत्रों या इन्द्रियों से भगवान् को देखा नहीं जा सकता। भगवान् का दर्शन करने की आशा से पूर्व इन्द्रियों को आध्यात्मिक (दिव्य) बनाना होगा। किन्तु वे सदैव साकार रूप में रहते हैं और वैकुण्ठ लोक के वासियों को साक्षात् दिखते हैं। अतः वे राज्य के उस कार्यकारी अध्यक्ष की भाँति भौतिक दृष्टि से निराकार रहते हैं, जो राजभवन में निराकार नहीं रहता। इसी प्रकार भगवान् भी अपने धाम में निराकार नहीं रहते, उनका धाम तो *निरस्त-कुहकम्* है जैसाकि *भागवत* के प्रारम्भ में ही कहा गया है। अतः जैसाकि शास्त्रों से प्रकट है, भगवान् के साकार तथा

निराकार दोनों ही रूप ग्राह्य हैं। *भगवद्गीता* (१४.२७) में भगवान् के इस रूप को जोर देकर इस प्रकार वर्णित किया गया है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*। इस प्रकार सभी प्रकार से आध्यात्मिक ज्ञान का गृह्य अंश भगवान् का साक्षात्कार है, उनका निराकार ब्रह्म रूप नहीं। अतः मनुष्य का लक्ष्य परम सत्य के इसी साकार रूप का साक्षात्कार है, न कि निराकार रूप का। परम सत्य की विश्वचेतना को समझने हेतु जिज्ञासु के लिए घट के भीतर तथा घट के बाहर आकाश का दृष्टान्त उपयोगी हो सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि झूठे दावे से भगवान् का अंश परब्रह्म हो सकता है। इसका अर्थ यही होता है कि बद्धजीव मायाजाल के अन्तिम दाँव का शिकार बन चुका है। भगवान् की विश्वचेतना के साथ तादात्म्य का दावा करना दैवी माया द्वारा तैयार किया गया अन्तिम फन्दा होता है। भगवान् के निराकार होने पर भी मनुष्य को भौतिक सृष्टि की भाँति साकार रूप के साक्षात्कार की आकांक्षा रखनी चाहिए और *पश्चादहं यद् एतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्* का यही भावार्थ है।

नारद को उपदेश देते समय ब्रह्माजी ने भी इस सत्य को स्वीकार किया है। वे *भागवत* (२.७.५०) में कहते हैं—*सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः*। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि के अतिरिक्त समस्त कारणों का कारण कोई अन्य नहीं है। अतः अहमेव इत्यादि श्लोक परमेश्वर के अतिरिक्त और कुछ सूचित नहीं करता। अतः मनुष्य को “ब्रह्म सम्प्रदाय” अर्थात् ब्रह्मा से नारद, फिर व्यास इत्यादि का अनुसरण करना चाहिए और श्रीभगवान् हरि या श्रीकृष्ण को प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिए। शुद्ध भक्तों को दिया गया यह परमगृह्य उपदेश अर्जुन को तथा सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा को भी दिया गया था। निस्सन्देह ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, इन्द्र, चन्द्र, वरुण इत्यादि देवता विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करने के लिए भगवान् के ही विभिन्न रूप हैं; सृष्टि के विभिन्न अवयव, अनेक शक्तियाँ भी उसी भगवान् की हैं, किन्तु इन सबों के मूल श्रीभगवान् श्रीकृष्ण हैं। मनुष्य को चाहिए कि शाखाओं तथा पत्तियों से मोहग्रस्त न होकर, मूल को ही ग्रहण करे। यही इस श्लोक की शिक्षा है।

**ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।**

**तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः ॥ ३४ ॥**

**शब्दार्थ**

ऋते—रहित; अर्थम्—सार; यत्—जो; प्रतीयेत—प्रतीत होता है; न—नहीं; प्रतीयेत—प्रतीत होता है; च—तथा; आत्मनि—मेरे प्रसंग में; तत्—वह; विद्यात्—तुम्हें जानना चाहिए; आत्मनः—मेरी; मायाम्—माया; यथा—जिस तरह; आभासः—प्रतिबिम्ब; यथा—जिस प्रकार; तमः—अंधकार।

हे ब्रह्मा, जो भी सारयुक्त प्रतीत होता है, यदि वह मुझसे सम्बन्धित नहीं है, तो उसमें कोई वास्तविकता नहीं है। इसे मेरी माया जानो, इसे ऐसा प्रतिबिम्ब मानो जो अन्धकार में प्रकट होता है।

**तात्पर्य :** पिछले श्लोक में यह निष्कर्ष प्राप्त हो चुका है कि विश्व सम्बन्धी प्राकट्य की कोई भी अवस्था—इसकी उत्पत्ति, पालन, विकास, विभिन्न शक्तियों की अन्योन्य क्रियाएँ इसका क्षय तथा विलोप—सभी भगवान् के अस्तित्व से सम्बद्ध हैं। अतः जब भी भगवान् के साथ इस मूल सम्बन्ध को विस्मृत कर दिया जाता है और वस्तुओं को भगवान् से सम्बद्ध किये बिना सत्य मान लिया जाता है, तो इस धारणा को भगवान् की माया का फल समझना चाहिए। चूँकि भगवान् के बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता, इसलिए माया भी भगवान् की एक शक्ति है। प्रत्येक वस्तु को भगवान् से सम्बन्धित करने का समुचित निष्कर्ष “योगमाया” कहलाता है और भगवान् से विलग करने की भ्रान्त धारणा (विच्छेद) भगवान् की दैवी माया या “महामाया” कहलाती है। दोनों प्रकार की माया का भगवान् से सम्बन्ध रहता है, क्योंकि उनके सम्बन्ध के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रह सकता। इस प्रकार, भगवान् से सम्बन्ध-विच्छेद की भ्रान्त धारणा असत्य नहीं वरन् भ्रमपूर्ण है।

किसी एक वस्तु को दूसरी वस्तु समझना भ्रम कहलाता है। उदाहरणार्थ, रस्सी को साँप मान लेना भ्रम है, किन्तु रस्सी असत्य (मृषा) नहीं है। रस्सी भ्रमग्रस्त व्यक्ति के समक्ष होने से असत्य नहीं है। हाँ, इसको सर्प मान लेना भ्रमपूर्ण है। अतः भौतिक अस्तित्व के विषय में भ्रान्त धारणा भगवान् की शक्ति से त्यक्त हो चुकने पर भ्रम है, किन्तु असत्य नहीं है। यह भ्रान्त धारणा ही अविद्या के अन्धकार में सत्य का प्रतिबिम्ब (छाया) कहलाती है। कोई भी वस्तु जो “मेरी शक्ति से उत्पन्न” नहीं लगती है, वह माया है। जीवात्मा को रूपविहीन मानना या परमेश्वर के निराकार होने की धारणा भी भ्रम है। *भगवद्गीता* (२.१२) में भगवान् ने युद्धभूमि में स्थित होकर कहा है कि अर्जुन, अर्जुन के समक्ष खड़े योद्धा तथा भगवान् स्वयं इसके पूर्व भी विद्यमान थे, वे कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भी विद्यमान हैं और भविष्य में भी वर्तमान देह के विनष्ट हो जाने पर और भवबन्धन से छुटकारा पा लेने पर भी इसी रूप में



विद्यमान रहेंगे। समस्त अवस्थाओं में भगवान् तथा जीवात्माएँ अपना अस्तित्व बनाये रखती हैं और इन दोनों के साकार रूप कभी नष्ट नहीं होते। केवल माया का प्रभाव, जो अंधकार में प्रकाश के प्रतिबिम्बस्वरूप है, भगवत्कृपा से दूर हो सकता है। भौतिक जगत में सूर्य का प्रकाश भी स्वतन्त्र नहीं है, न ही चन्द्रमा का प्रकाश। प्रकाश का असली स्रोत तो ब्रह्मज्योति है, जो भगवान् के दिव्य शरीर से प्रकाश को उद्भूत करती है और यही प्रकाश अनेक प्रकार के प्रकाशों में प्रतिबिम्बित होता है—यथा सूर्य-प्रकाश, चन्द्रमा का प्रकाश, अग्नि का प्रकाश, बिजली का प्रकाश। अतः परमात्मा से असम्बद्ध होकर आत्मा की सत्ता भी भ्रम है और “मैं परम हूँ” यह झूठा दावा उसी माया का अर्थात् भगवान् की बहिरंगा शक्ति का अन्तिम पाश होता है।

वेदान्त-सूत्र प्रारम्भ में ही पुष्टि करता है कि प्रत्येक वस्तु परमेश्वर से उत्पन्न है, अतः समस्त जीवात्माएँ परम पुरुष भगवान् की शक्ति से उत्पन्न हैं जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है। ब्रह्मा स्वयं भगवान् की शक्ति से उत्पन्न हैं और अन्य समस्त जीवात्माएँ भी ब्रह्मा के माध्यम से भगवान् की ही शक्ति से उत्पन्न हैं। भगवान् से सम्बन्धित हुए बिना किसी का कोई अस्तित्व नहीं होता।

प्रत्येक जीवात्मा की स्वतन्त्रता वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं है, अपितु यह परम पुरुष भगवान् में निहित वास्तविक स्वतन्त्रता का प्रतिबिम्ब मात्र होती है। बद्धजीवों द्वारा परम स्वतन्त्रता का झूठा दावा भ्रम ही है, इस निष्कर्ष को इस श्लोक में स्वीकारा गया है।

अल्पज्ञानी पुरुष भ्रमग्रस्त हो जाते हैं, इसीलिए तथाकथित विज्ञानी, शरीर-विज्ञानी, चिन्तक इत्यादि सूर्य, चन्द्र, बिजली इत्यादि के आभायुक्त प्रतिबिम्ब से चकाचौंध होते रहते हैं और प्रत्येक भौतिक वस्तु की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के विषय में नाना प्रकार के सिद्धान्त तथा कल्पनाएँ प्रस्तुत करके भगवान् के अस्तित्व को नकारते रहते हैं। कोई चिकित्सक मानव के शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को नकार सकता है, किन्तु मृत शरीर में वह प्राण नहीं फूँक सकता, यद्यपि मृत्यु के बाद भी शरीर का सारा तन्त्र जैसे का तैसा बना रहता है। मनोवैज्ञानिक मस्तिष्क की बनावट के विषय में गम्भीर अध्ययन करता है, उसके लिए मानो मस्तिष्क के लोथड़े की बनावट ही मानसिक-क्रिया की मशीन हो, किन्तु मृत शरीर के मस्तिष्क को वह क्रियाशील नहीं बना सकता। परमेश्वर से स्वतन्त्र

मानकर ब्रह्माण्ड विषयक अथवा शारीरिक रचना विषयक ये वैज्ञानिक अध्ययन केवल बौद्धिक व्यायाम हैं और अन्ततः भ्रम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होते। आधुनिक भौतिक सभ्यता के प्रसंग में विज्ञान तथा ज्ञान सम्बन्धी ऐसी सारी प्रगति माया के आच्छादक प्रभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती। माया की दो अवस्थाएँ होती हैं—आच्छादक प्रभाव तथा क्षेपक प्रभाव। क्षेपक प्रभाव के कारण माया जीवों को अविद्या के अन्धकार में गिरा देती है और आच्छादक प्रभाव से वह अल्प ज्ञानियों की आँखें ढक देती है, जिससे वह परम पुरुष के अस्तित्व के विषय में, जिसने सर्वोपरि जीवात्मा ब्रह्मा को प्रकाश दिया, अज्ञानी बना रहता है। यहाँ पर परमेश्वर के साथ ब्रह्मा के तादात्म्य का दावा नहीं किया गया है, अतः अल्पज्ञानियों द्वारा ऐसा मूर्खतापूर्ण दावा भगवान् की माया का दूसरा प्रदर्शन है। भगवान् ने *भगवद्गीता* (१६.१८-२०) में कहा है—ईश्वर के अस्तित्व को न मानने वाले आसुरी लोगों को अविद्या के अन्धकार में बारबार डाला जाता है, जिससे वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जाने बिना जन्म-जन्मान्तर देहान्तर करते रहते हैं।

किन्तु विचारवान पुरुष स्वयं भगवान् से उपदिष्ट ब्रह्माजी की शिष्य-परम्परा से, जिन्हें भगवान् ने स्वयं उपदेश दिया या अर्जुन की शिष्य-परम्परा से जिन्हें स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* का उपदेश दिया, प्रबुद्ध होते हैं। उसे भगवान् का यह कथन मान्य होता है—

*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।*

*इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥*

( *भगवद्गीता* १०.८ )

भगवान् समस्त तेजों तथा जो कुछ भगवान् की शक्ति से उत्पन्न हुआ है, पालित है और विनाश को प्राप्त होता है, उन सबके मूल स्रोत हैं। जो विचारवान मनुष्य इसे जान लेता है, वही वास्तव में विद्वान है और वही भगवान् का शुद्ध भक्त बनकर भगवान् की प्रेमाभक्ति में रत होता है।

यद्यपि अल्पज्ञानी के समक्ष भगवान् की प्रतिबिम्बक शक्ति अनेक भ्रम उत्पन्न करती है, किन्तु विचारवान व्यक्ति जानता है कि भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा हमारी दृष्टि से दूर से दूरतर स्थान में रहकर उसी प्रकार कार्य कर सकते हैं जिस प्रकार दूर स्थान में रखी अग्नि गर्मी तथा प्रकाश

फैलाती है। प्राचीन ऋषियों के औषधि विज्ञान आयुर्वेद में भगवान् की श्रेष्ठता को निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार किया गया है—

*जगद्योनेरनिच्छस्य चिदानन्दैकरूपिणः ।*

*पुंसोऽस्ति प्रकृतिर्नित्या प्रतिच्छायेव भास्वतः ॥*

*अचेतनापि चैतन्ययोगेन परमात्मनः ।*

*अकरोद्विश्वमखिलम् अनित्यम् नाटकाकृतिम् ॥*

इस विश्व का एक जनक है, जिसे परम पुरुष कहते हैं और जिसकी शक्ति प्रतिबिम्ब रूप में चकाचौंध करती हुई भौतिक प्रकृति के रूप में कार्य करती है। प्रकृति के ऐसे भ्रमपूर्ण कार्य से मृत पदार्थ भी भगवान् की जीवित शक्ति के सहयोग से गति करने लगता है और अज्ञानी नेत्रों को यह भौतिक जगत नाटक के खेल की तरह प्रतीत होता है। अतः प्रकृति के नाटक में अज्ञानी पुरुष विज्ञानी अथवा शरीरक्रिया विज्ञानी भी हो सकता है, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति जानता है कि प्रकृति भगवान् की माया है। ऐसे निष्कर्ष से, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* द्वारा होती है, यह स्पष्ट है कि जीवात्माएँ भी भगवान् की ज्येष्ठा शक्ति (पराप्रकृति) के प्रदर्शनस्वरूप हैं जिस प्रकार भौतिक जगत भगवान् की कनिष्ठा शक्ति (अपरा शक्ति) का प्रदर्शन है। भगवान् की ज्येष्ठा शक्ति कभी भी भगवान् के समान नहीं हो सकती, यद्यपि शक्ति तथा शक्तिमान में थोड़ा ही अन्तर है जितना कि अग्नि तथा ताप में। अग्नि में ताप होता है, किन्तु ताप अग्नि नहीं है। अल्पज्ञानी की समझ में इतनी सामान्य बात नहीं चढ़ती और वह झूठे ही अग्नि तथा ताप को एक ही बताता है। अग्नि की इस शक्ति (ताप) को सीधे अग्नि न कहकर उसका प्रतिबिम्ब कहा गया है। अतः जीवात्मा के रूप में जीवित शक्ति का प्रदर्शन भगवान् न होकर भगवान् का प्रतिबिम्ब होता है। भगवान् का प्रतिबिम्ब होने के कारण जीवात्मा का अस्तित्व भगवान् पर आश्रित है, जो मूल प्रकाश है। इस भौतिक शक्ति की तुलना अन्धकार से की जा सकती है, क्योंकि वह वस्तुतः अन्धकारस्वरूप होती है और अन्धकार में जीवात्माओं के कार्यकलाप मूल प्रकाश के प्रतिबिम्ब होते हैं। इस श्लोक के आधार पर भगवान् को समझना होगा। भगवान् की दोनों शक्तियों की अ-पराश्रिता को माया या भ्रम कहा गया है। केवल प्रकाश के प्रतिबिम्ब से अविद्याजन्य अन्धकार

को दूर करना मुश्किल है। इसी प्रकार सामान्य पुरुष के प्रतिबिम्बित प्रकाश से इस भौतिक संसार से बाहर निकल पाना कठिन है, जब तक मूल प्रकाश से प्रकाश प्राप्त न हो ले। अंधकार में सूर्य का प्रतिबिम्ब अंधकार को दूर करने में असमर्थ रहता है, किन्तु प्रतिबिम्ब से बाहर सूर्य का प्रकाश अन्धकार को दूर कर देता है। यदि कमरे में अंधकार हो तो कोई भी वस्तु नहीं दिखती। इसीलिए अंधकार में मनुष्य को साँपों तथा बिच्छुओं से भय लगता है, भले ही वे वहाँ पर न हों। किन्तु प्रकाश में कमरे की सारी वस्तुएँ स्पष्ट दिखती हैं और साँप-बिच्छुओं का भय भी तुरन्त जाता रहता है। अतः मनुष्य को भगवान् के प्रकाश की—जैसे *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* की शरण ग्रहण करनी चाहिए, किन्तु ऐसे प्रतिबिम्ब रूपी पुरुषों की नहीं जो भगवान् के सम्पर्क में नहीं रहते। किसी भी मनुष्य को *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* का श्रवण ऐसे पुरुष से नहीं करना चाहिए जो भगवान् के अस्तित्व पर विश्वास नहीं रखता (आस्तिक नहीं है)। ऐसे व्यक्ति का विनाश होना ही है और जो ऐसे पुरुष की संगति करता है उसका भी विनाश होता है।

*पद्म पुराण* के अनुसार भौतिक ब्रह्माण्ड अनन्त है और वे सारे के सारे अंधकार से पूर्ण हैं। सभी जीव, ब्रह्मा (अनन्त ब्रह्माण्डों में असंख्य ब्रह्मा हैं) से लेकर नगण्य चीटियों तक, अन्धकार में ही उत्पन्न होते हैं और इसके लिए कि वे भगवान् को प्रत्यक्ष देख सकें, भगवान् से प्रकाश प्राप्त करने की आवश्यकता होती है, जिस प्रकार सूर्य को सूर्य के सीधे प्रकाश द्वारा ही देख पाना सम्भव है। किसी भी दीपक या मनुष्यनिर्मित टार्च के प्रकाश से सूर्य को नहीं देखा जा सकता भले ही वह कितना भी शक्तिशाली हो। सूर्य अपने को स्वयं प्रकाशित करता है, अतः भगवान् की विभिन्न शक्तियों के कर्म को अथवा भगवान् को अहैतुकी कृपा द्वारा प्रकट किये गये प्रकाश से ही अनुभव किया जा सकता है। निर्विशेषवादियों का कहना है कि ईश्वर देखा नहीं जा सकता। ईश्वर को तो ईश्वर के प्रकाश से ही देखा जा सकता है, मानवीय चिन्तन द्वारा नहीं। यहाँ इस प्रकाश को विशेष रूप से *विद्यात्* कहा गया है, जो ब्रह्मा के लिए भगवान् का आदेश है। भगवान् का यह प्रत्यक्ष आदेश उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है और इसी शक्ति विशेष द्वारा भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन किया जा सकता है। ऐसा नहीं है कि केवल ब्रह्मा को ही ऐसा अवसर प्राप्त हो, अपितु जिस किसी पर भगवान् की कृपा होती है, वह अन्तरंगा

शक्ति के द्वारा कल्पना के बिना ही श्रीभगवान् का साक्षात्कार कर सकता है ।

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।

प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; महान्ति—सर्वव्यापी; भूतानि—तत्त्व; भूतेषु उच्च-अवचेषु—लघु तथा विराट में; अनु—पीछे; प्रविष्टानि—प्रवेश कर लिया; अप्रविष्टानि—प्रविष्ट नहीं; तथा—उसी तरह; तेषु—उनमें; न—नहीं; तेषु—उनमें; अहम्—मैं ।

हे ब्रह्मा, तुम यह जान लो कि ब्रह्माण्ड के सारे तत्त्व विश्व में प्रवेश करते हुए भी प्रवेश नहीं करते हैं। उसी प्रकार मैं उत्पन्न की गई प्रत्येक वस्तु में स्थित रहते हुए भी साथ ही साथ प्रत्येक वस्तु से पृथक् रहता हूँ।

तात्पर्य : भौतिक सृष्टि के महान् तत्त्व अर्थात् क्षिति, जल, पावक, समीर तथा गगन समस्त प्रकट वस्तुओं, चाहे समुद्र हो या पर्वत, अथवा जलचर, पौधे, सरीसृप, पक्षी, पशु, मनुष्य, देवता अथवा जिनका भी अस्तित्व है, उनके शरीर में प्रवेश करते हैं, किन्तु साथ ही साथ वे उनसे पृथक् भी स्थित रहते हैं। चेतना के विकसित होने पर मनुष्य शरीरक्रिया तथा भौतिक विज्ञान का अध्ययन कर सकता है, किन्तु ऐसे विज्ञानों के मूल सिद्धान्त भौतिक तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। चाहे मनुष्य का शरीर हो या पर्वत हो, चाहे ब्रह्मा समेत देवताओं का शरीर हो, वे सभी एक से तत्त्वों क्षिति, जल इत्यादि से बने और उसी के साथ ही ये तत्त्व शरीर से बाहर भी हैं। पहले तत्त्वों की उत्पत्ति हुई, अतः वे शरीर में बाद में प्रविष्ट हुए, किन्तु दोनों ही दशाओं में वे विश्व में प्रविष्ट हुए और नहीं भी प्रविष्ट हुए। इसी प्रकार परमेश्वर अपनी विभिन्न शक्तियों—अन्तरंगा तथा बहिरंगा—सहित इस ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु के भीतर स्थित हैं और उसी के साथ-साथ वे प्रत्येक वस्तु के बाहर वैकुण्ठ लोक में स्थित रहते हैं, जैसाकि पहले कहा जा चुका है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) में इसका वर्णन अति सुन्दर ढंग से इस प्रकार मिलता है—

*आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिस्*

*ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः ।*

*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो*

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन आदि श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपनी सच्चिदानन्द रूप अन्तरंगा शक्ति के विस्तार से, स्व तथा अंशों का सुख उठाते हैं और साथ ही वे सृष्टि के कण-कण में भी व्याप्त रहते हैं।”

उसी ब्रह्म-संहिता (५.३५) में उनके अंशों के इस विस्तार का और भी ठीक तरह से वर्णन हुआ है। यथा

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं

यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः ।

अण्डान्तरस्थ परमाणुचयान्तरस्थं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन आदि श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने एक अंश के द्वारा प्रत्येक ब्रह्माण्ड तथा प्रत्येक परमाणु में प्रविष्ट होते हैं और इस प्रकार समग्र सृष्टि भर में अपनी अनन्त शक्ति का असीम प्राकट्य करते हैं।”

निर्विशेषवादी कल्पना कर सकते हैं और चाहें तो देख सकते हैं कि परब्रह्म सर्वव्यापी हैं। इस प्रकार वे इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि उनके साकार होने की कोई संभावना नहीं है। यही भगवान् के दिव्य ज्ञान का रहस्य है। यह रहस्य भगवान् का दिव्य प्रेम है और जो भी भगवान् के ऐसे दिव्य प्रेम से पूरित होता है, वही प्रत्येक परमाणु तथा जड़ एवं चेतन पदार्थ में भगवान् के दर्शन कर सकता है। साथ ही वह भगवान् को उनके धाम गोलोक में अपने नित्य पार्षदों के साथ, जो उनके ही विस्तार हैं, नित्य लीला करते देख सकता है। यही दृष्टि आध्यात्मिक ज्ञान का वास्तविक रहस्य है, जैसाकि भगवान् ने प्रारम्भ में कहा है ( स रहस्यं तदगं च )। यह रहस्य परमेश्वर के ज्ञान का परम गुह्य भाग है और इसे चिन्तक बौद्धिक व्यायाम द्वारा कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते। यह रहस्य ब्रह्म-संहिता (५.३८) में ब्रह्माजी द्वारा बताई निम्नलिखित विधि से प्रकाश में आता है—

प्रेमांजनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति ।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन आदि श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जिनका दर्शन शुद्ध भक्त अपनी आँखों में भगवद्प्रेम रूपी अञ्जन लगाकर सदैव अपने हृदयों के भीतर करते हैं। यह गोविन्द समस्त दिव्य गुणों से पूर्ण श्यामसुन्दर स्वरूप हैं।”

अतः पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् प्रत्येक परमाणु में स्थित होकर भी शुष्क चिन्तकों के लिए अदृश्य बने रहते हैं; तो भी शुद्ध भक्तों के नेत्रों के समक्ष सारा रहस्य खुल जाता है, क्योंकि उनमें प्रेमांजन जो लगा रहता है। यह भगवद्प्रेम भगवान् की प्रेमाभक्ति की साधना से ही प्राप्त हो सकता है और किसी तरह नहीं। भक्त की दृष्टि सामान्य नहीं होती वह भक्ति-मय सेवा के द्वारा परिष्कृत हो जाती है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के सारे तत्त्व बाहर तथा भीतर हैं उसी तरह भगवान् के नाम, रूप, गुण लीलाएँ, पार्षद आदि जिस तरह उनका शास्त्रों में वर्णन हैं या भौतिक संसार से परे वे वैकुण्ठ लोक में दिखते हैं ये सभी भक्त के हृदय में उसी प्रकार दिखते हैं जैसे टेलीविजन में वस्तुएँ दिखती हैं। अल्पज्ञानी पुरुष इसे नहीं समझ पाता यद्यपि वह भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत टेलीविजन के द्वारा दूर-दूर की वस्तुएँ देख सकता है। वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत हुआ व्यक्ति अपने हृदय में भगवान् के धाम का टेलीविजन प्रतिबिम्ब सदैव प्राप्त कर सकता है। भगवान् के ज्ञान का यही रहस्य है।

भगवान् प्रत्येक प्राणी को इस संसार के बन्धन से मुक्ति दिला सकते हैं, किन्तु विरले ही वे भगवत्प्रेम का अधिकार प्रदान करते हैं जिसकी पुष्टि नारद ने भी की है ( *मुक्तिं दधाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्* )। भगवान् की यह दिव्य भक्ति इतनी अद्भुत है कि सुपात्र भक्त परम सत्य से ध्यान हटाए बिना मनोनुकूल शारीरिक कार्य में तल्लीन रहता है। इस प्रकार भक्त के हृदय में भगवत्प्रेम का उदय एक महान् रहस्य है। ब्रह्माजी पहले ही नारद से कह चुके हैं कि भगवान् की दिव्यभक्ति में लीन रहने के कारण उनकी इच्छाएँ कभी भी अतृप्त नहीं रहतीं, न ही उनके मन में भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा रहती है। भक्तियोग की यही सुन्दरता है तथा यही रहस्य है। जिस प्रकार अच्युत होने के कारण

उनकी इच्छा अचूक है उसी प्रकार दिव्यभक्ति में लगे भक्तों की इच्छाएँ भी अच्युत हैं। किन्तु जिसे भक्ति के रहस्य का ज्ञान नहीं, ऐसे अज्ञानी के लिए यह समझ पाना कठिन है, जिस प्रकार कि पारस पत्थर की शक्ति को समझ पाना। पारस पत्थर अत्यन्त विरल है उसी प्रकार भगवान् का शुद्ध भक्त भी लाखों मुक्त पुरुषों में विरले ही पाया जाता है। (कोटिष्वपि महामुने)। ज्ञान के द्वारा जितनी भी सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, उनमें से भक्ति में योग सिद्धि सर्वोच्च और सर्वाधिक गुह्य सिद्धि है, यहाँ तक कि योगाभ्यास से प्राप्त होने वाली अष्ट सिद्धियों में से भी अधिक गुप्त। अतः भगवान् ने *भगवद्गीता* (१८.६४) में अर्जुन को इस भक्तियोग का उपदेश दिया है।

*सर्वगुह्यतमम् भूयः शृणु मे परमं वचः*—भगवद्गीता में सब गोपनीयों में भी गोपनीय मेरे परम सार वचन को फिर से सुन। इसी वचन की पुष्टि ब्रह्माजी द्वारा नारद को कहे गये शब्दों से होती है—

*इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम्।*

*संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद्विपुलीकुरु ॥*

ब्रह्माजी ने नारद से कहा, “मैंने *भागवत* के विषय में तुमसे जो कुछ कहा है, वही मुझसे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने कहा था और मैं तुम्हें परमार्श दे रहा हूँ जिससे तुम इन कथाओं का उत्तम ढंग से विस्तार कर दो जिससे लोग भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति से गुह्य भक्तियोग को सरलता से समझ सकें।” यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि ब्रह्मा को भक्तियोग का रहस्य भगवान् ने स्वयं बतलाया था। ब्रह्मा ने उस रहस्य को नारद को, नारद ने उसे व्यास को और व्यास ने शुकदेव गोस्वामी को समझाया और यही ज्ञान शुद्ध शिष्य-परम्परा से अब तक चला आ रहा है। यदि कोई इतना भाग्यशाली हो कि उसे शिष्य-परम्परा का यह ज्ञान प्राप्त हो सके तो वह भगवान् के रहस्य तथा उनके शब्द अवतार *श्रीमद्भागवत* के रहस्य को समझ सकता है।

**एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्व-जिज्ञासुनात्मनः ।**

**अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥ ३६ ॥**

**शब्दार्थ**

एतावत्—यहाँ तक; एव—निश्चय ही; जिज्ञास्यम्—पूछा जाना चाहिए; तत्त्व—परम सत्य; जिज्ञासुना—विद्यार्थी द्वारा; आत्मनः—स्व का; अन्वय—प्रत्यक्ष; व्यतिरेकाभ्याम्—अप्रत्यक्ष रूप से; यत्—जो भी; स्यात्—सम्भव है; सर्वत्र—सभी जगह तथा सर्वकाल में; सर्वदा—समस्त परिस्थितियों में।



जो व्यक्ति परम सत्य रूप श्रीभगवान् की खोज में लगा हो उसे चाहिए कि वह समस्त परिस्थितियों में सर्वत्र और सर्वदा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार से इसकी खोज करे।

**तात्पर्य :** जैसा पिछले श्लोक में कहा गया है भक्तियोग के रहस्य को जान लेना ही जिज्ञासु के लिए समस्त जिज्ञासाओं की परम अवस्था या उनका परम लक्ष्य है। प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न ढंग से आत्म-साक्षात्कार की खोज में लगा हुआ है—चाहे वह कर्म-योग से हो, ज्ञानयोग से हो, या कि ध्यानयोग या राजयोग से हो, अथवा भक्तियोग से हो। प्रत्येक चेतनायुक्त जीवात्मा का कर्तव्य है कि आत्म-साक्षात्कार में प्रवृत्त हो। जो चेतना में उन्नत है, वह निश्चय ही आत्मा के विषय में, विश्व के विषय में तथा जीवन के समस्त क्षेत्रों के विषय में—यथा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आचार सम्बन्धी विषयों तथा उनकी विविध शाखाओं के विषय में जिज्ञासा करता है। किन्तु यहाँ पर तो ऐसी समस्त जिज्ञासाओं के लक्ष्य को बताया गया है।

वेदान्त सूत्र दर्शन जीवन विषयक इसी जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है और *भागवत* ऐसी समस्त जिज्ञासाओं का इस बिन्दु तक अथवा समस्त जिज्ञासाओं के रहस्य का उत्तर देता है। ब्रह्माजी चाहते थे कि भगवान् उन्हें पूरी तरह शिक्षित कर दें और यहाँ पर भगवान् द्वारा दिया गया उत्तर चार संक्षिप्त श्लोकों में *अहमेव* श्लोक से लेकर *एतावदेव* तक है। यही आत्म-साक्षात्कार विधियों का समापन है। अन्धकार में चकाचौंध से मोहग्रस्त होने के कारण मनुष्य यह नहीं जान पाते कि जीवन का चरम लक्ष्य श्रीभगवान् विष्णु हैं; फलस्वरूप प्रत्येक प्राणी अनियन्त्रित इन्द्रियों द्वारा घुमाया-फिराया जाकर इस संसार के गहनतम अंधकार में धँसता जाता है। समग्र भौतिक संसार इन्द्रिय-तृप्ति, मुख्यतया कामवासना पर आधारित कामनाओं के कारण उत्पन्न हुआ है फलस्वरूप ज्ञान की समस्त प्रगति के बावजूद समस्त जीवों का अन्तिम लक्ष्य इन्द्रिय-तृप्ति ही रहता है। किन्तु यहाँ पर वास्तविक जीवन-लक्ष्य बताया गया है, जिसे भक्तियोग के ज्ञान में दक्ष प्रामाणिक गुरु या जीवित *भागवत* जीवन के जीवन्त पुरुष समक्ष जिज्ञासा करके जानना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार की धर्म सम्बन्धी जिज्ञासाओं में लगा हुआ है, किन्तु *श्रीमद्भागवत* आत्म-साक्षात्कार के समस्त जिज्ञासुओं को उत्तर प्रदान करने वाला है। जीवन का यह परम-लक्ष्य कठोर परिश्रम अथवा लगन के बिना नहीं खोजा जा

सकता। जो व्यक्ति ऐसी सच्ची जिज्ञासाओं से प्रेरित होता हो उसे चाहिए कि ब्रह्माजी की शिष्य-परम्परा के प्रामाणिक गुरु से पूछे। यही इस श्लोक में निर्देशित है। चूँकि भगवान् ने इस रहस्य को ब्रह्माजी के समक्ष प्रकट किया था, अतः आत्म-साक्षात्कार सम्बन्धी सारी जिज्ञासाएँ ऐसे गुरु के समक्ष प्रकट की जानी चाहिए, जो शिष्य-परम्परा से मान्य भगवान् का सीधा प्रतिनिधि हो। ऐसा प्रामाणिक गुरु शास्त्रों के प्रमाण के आधार पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से सारी बात को स्पष्ट करने में समर्थ होता है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति को छूट है कि वह इस सम्बन्ध में शास्त्रों का अवलोकन करे, किन्तु फिर भी उसे प्रामाणिक गुरु के पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता पड़ती है। इस श्लोक में यही आदेश है। प्रामाणिक गुरु भगवान् का सबसे अधिक विश्वासपात्र प्रतिनिधि होता है, अतः मनुष्य को चाहिए कि गुरु से उसी भाव से आदेश प्राप्त करे जिस प्रकार ब्रह्माजी ने भगवान् श्रीकृष्ण से प्राप्त किया था। उस शिष्य-परम्परा में प्रामाणिक गुरु कभी भी अपने को भगवान् नहीं कहता, यद्यपि ऐसा गुरु भगवान् से भी बड़ा होता है, क्योंकि वह अपने व्यक्तिगत अनुभव से भगवान् को दूसरों को सौंप सकता है। भगवान् को केवल शिक्षा या उर्वर मस्तिष्क के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु प्रामाणिक गुरु के पारदर्शी माध्यम से जिज्ञासु को उसकी प्राप्ति हो सकती है।

शास्त्रों में इसके सीधे निर्देश प्राप्त हैं, किन्तु जीवात्माएँ अन्धकार में चकाचौंध के द्वारा मोहग्रस्त होने के कारण अंधी होने से शास्त्रों के सत्य को खोज पाने में अक्षम रहती हैं। उदाहरणार्थ, *भगवद्गीता* में सारा आदेश भगवान् श्रीकृष्ण की ओर लक्षित है, किन्तु ब्रह्माजी की परम्परा में प्रामाणिक गुरु के अभाव में, अथवा अर्जुन जैसे प्रत्यक्ष श्रोता के अभाव में, अनेक अवैध पुरुष अपनी सनकों की तुष्टि के लिए इस दिव्य ज्ञान को तोड़-मोड़ कर प्रस्तुत करते हैं। निस्सन्देह, परव्योम के क्षितिज में *भगवद्गीता* सर्वाधिक प्रकाशमान नक्षत्र है, किन्तु इस महान् ज्ञान-ग्रंथ की व्याख्याएँ इतनी बुरी तरह से तोड़ी-मरोड़ी गई हैं कि *भगवद्गीता* का प्रत्येक जिज्ञासु भौतिक चमक-दमक के अंधकार में अभी भी पड़ा हुआ है। ऐसे जिज्ञासुओं को शायद ही *भगवद्गीता* से प्रकाश मिल पाता हो। गीता में मुख्य रूप से वही आदेश दिया गया है, जो *भागवत* के इन चार मूल श्लोकों में प्राप्त है, किन्तु अनधिकृत व्यक्तियों द्वारा इसकी गलत तथा फैशनपरस्त व्याख्या से कोई सही निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाता। *भगवद्गीता*

(१८.६१) में स्पष्ट उल्लेख है—

*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।*

*भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥*

भगवान् परमात्मा रूप में सभी जीवों के हृदयों में स्थित हैं और अपनी बहिरंगा शक्ति के द्वारा संसार के समस्त प्राणियों को नियन्त्रण में रखते हैं। अतः यह स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् परम नियन्ता हैं और जीवात्माएँ भगवान् द्वारा नियन्त्रित हैं। उसी *भगवद्गीता* (१८.६५) में भगवान् आदेश देते हैं कि—

*मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।*

*मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥*

इससे स्पष्ट है कि भगवान् का आदेश है कि मनुष्य को भगवतो-मुखी, भगवान् का भक्त, उन्हीं का उपासक होना चाहिए और भगवान् श्रीकृष्ण को ही नमस्कार करना चाहिए। ऐसा करने से भक्त निस्संदेह भगवान् के धाम को प्राप्त होगा।

अप्रत्यक्ष रूप से यह कहा जाता है कि मानव समाज की सम्पूर्ण वैदिक संरचना इस प्रकार बनी हुई है कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् के पूरे शरीर के अंग-प्रत्यंग के रूप में कार्यकरता है। ज्ञानी पुरुष अर्थात् ब्राह्मण भगवान् के मुख पर स्थित हैं शासक वर्ग अर्थात् क्षत्रिय उनकी बाहुओं पर व्यापारी वर्ग अर्थात् वैश्य भगवान् के कटि भाग पर तथा श्रमिक वर्ग या शूद्र भगवान् के पाँवों पर स्थित हैं। अतः सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचा भगवान् का शरीर है और शरीर के विविध भाग—यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी मिलकर भगवान् के पूरे शरीर की सेवा करने के निमित्त हैं, अन्यथा ये भाग एकता की परम चेतना में समन्वित किए जाने के योग्य नहीं रह जाते। श्रीभगवान् से सम्बद्ध सभी की समन्वित सेवा से विश्वचेतना प्राप्त की जा सकती है, अतः बड़े से बड़े वैज्ञानिक, महान् दार्शनिक, चिन्तक, राजनीतिज्ञ, उद्योगपति, समाज सुधारक इत्यादि तक भी इस संसार के अशान्त समाज को कोई राहत नहीं दिला सकते, क्योंकि वे *भागवत* के इस श्लोक में वर्णित सफलता के रहस्य अर्थात् *भक्तियोग* के रहस्य को नहीं जानते। *भगवद्गीता* (७.१५) में भी कहा गया है :

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमः ।

माययाऽपहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

चूँकि मानव समाज के तथाकथित बड़े-बड़े नेता भक्तियोग के इस महान् ज्ञान से अनजान रहते हैं और भगवान् की बहिरंगा शक्ति से मोहित होकर सदैव इन्द्रिय-तृप्ति के निकृष्ट कार्यों में संलग्न रहते हैं, अतः वे परमेश्वर की श्रेष्ठता के कट्टर विरोधी होते हैं और वे भगवान् की शरण में जाना कभी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे मूर्ख, बदमाश तथा नराधम हैं। ऐसे श्रद्धारहित नास्तिक चाहे उन्हें कितनी ही उच्च शिक्षा प्राप्त क्यों न हो, वास्तव में संसार के सबसे बड़े मूर्ख हैं, क्योंकि बहिरंगा प्रकृति के प्रभाव से उनका सारा ज्ञान व्यर्थ हो जाता है। अतः सारा आधुनिक समुन्नत ज्ञान कुत्ते-बिल्लियों के समान इन्द्रिय-तृप्ति के लिए आपस में लड़ने में लग जाता है और विज्ञान, दर्शन, कला, राष्ट्रीयता, आर्थिक विकास, धर्म के सम्बन्ध में अर्जित सारा ज्ञान तथा सारे महान् कार्य उसी प्रकार व्यर्थ कर दिये जाते हैं जिस प्रकार शव के लिए प्रयुक्त वस्त्र। शव-शय्या को विविध प्रकार के वस्त्रों से ढक कर मूर्ख जनता से झूठी वाहवाही लूटने से कोई लाभ नहीं। अतः श्रीमद्भागवत बारम्बार कहता है कि भक्तियोग का पद प्राप्त किये बिना मानव समाज के सारे कार्यकलाप निष्फल होते हैं। कहा गया है—

पराभवस्तावदबोधजातो

यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।

यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै

कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥

( भागवत ५.५.५ )

जब तक मनुष्य आत्म-साक्षात्कार की जिज्ञासा की उपेक्षा करता है तब तक बड़े से बड़े भौतिक कार्यकलाप पराजय-स्वरूप होते हैं, क्योंकि मानव जीवन का उद्देश्य ऐसे अवांछित तथा व्यर्थ के कार्यों से पूर्ण नहीं होता। मनुष्य शरीर का कार्य भव-बन्धन से मुक्त होना है, किन्तु जब तक कोई भौतिक कार्यों में लीन रहेगा तब तक उसका मन पदार्थ की भँवर में घूमता रहेगा और वह जन्म-जन्मान्तर देह के बन्धन में फँसता रहेगा।

एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते  
अविद्ययात्मन्युपधीयमाने ।  
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे  
न मुच्यते देहयोगेन तावत् ॥

( भागवत ५.५.६ )

मन के ही कारण विविध देह धारण करके, सभी प्रकार की भौतिक यातनाएँ भोगनी होती हैं। अतः जब तक मन सकाम कर्म में लीन रहता है, उसे अज्ञान में लगा हुआ समझना चाहिए, अतः जब तक कि मनुष्य परम पुरुष भगवान् वासुदेव के प्रति दिव्य प्रेम उत्पन्न नहीं कर लेता तब तक वह पुनःपुनः विभिन्न देहों में भवबन्धन में पड़ता रहेगा। परम पुरुष वासुदेव के दिव्य नाम, गुण, रूप तथा लीलाओं में मग्न रहने का अर्थ है मन की वृत्ति को पदार्थ से परम ज्ञान में बदल देना जिससे परम बोध के पथ पर अग्रसर हुआ जा सकता है और इस प्रकार भवबन्धन तथा विभिन्न देहों के जाल से छुटकारा पाया जा सकता है।

अतः श्रील जीव गोस्वामी प्रभुपाद सर्वत्र सर्वदा शब्दों की टीका इस अर्थ में करते हैं कि भक्तियोग के नियम सभी परिस्थितियों के लिए उपयुक्त हैं, अर्थात् भक्तियोग समस्त शास्त्रों में संस्तुत है यह समस्त अधिकारियों द्वारा प्रयुक्त है यह सभी स्थानों पर महत्त्व रखता है यह समस्त कार्य-कारणों में उपयोगी है इत्यादि। जहाँ तक सभी शास्त्रों का सम्बन्ध है, वे स्कन्द पुराण से ब्रह्मा तथा नारद की कथा का निम्न उद्धरण देते हैं—

संसारेऽस्मिन् महाघोरे जन्ममृत्युसमाकुले ।

पूजनं वासुदेवस्य तारकं वादिभिः स्मृतम् ॥

यह संसार अंधकार तथा भय के साथ-साथ जन्म-मरण तथा विभिन्न चिन्ताओं से पूर्ण है और इस विशाल जाल से निकलने का एकमात्र उपाय भगवान् वासुदेव की दिव्य प्रेमाभक्ति को स्वीकार करना है। सभी वर्ग के दार्शनिकों ने इसे स्वीकार किया है।

श्रील जीव गोस्वामी एक अन्य व्यापक उद्धरण देते हैं, जो पद्म पुराण, स्कन्द पुराण तथा लिंग

पुराण—इन तीनों में पाया जाता है। यह इस प्रकार है—

*आलोड्य सर्वशास्त्रानि विचार्य च पुनः पुनः ।*

*इदम् एकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥*

“शास्त्रों के आलोडन तथा उनके बारम्बार पुनरीक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् नारायण ही परम सत्य हैं, अतः केवल उन्हीं की पूजा करनी चाहिए।”

यही सत्य अप्रत्यक्ष रूप में गरुड़ पुराण में इस प्रकार बताया गया है—

*पारंगतोऽपि वेदानां सर्वशास्त्रार्थवेद्यपि ।*

*यो न सर्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम् ॥*

“भले ही कोई समस्त वेदों का अवगाहन कर चुका हो और समस्त शास्त्रों में निपुण हो, किन्तु यदि वह परमेश्वर का भक्त नहीं है, तो उसे नराधम समझना चाहिए।” इसी प्रकार श्रीमद्भागवत (५.१८.१२) में भी अपरोक्ष रीति से कहा गया है—

*यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना*

*सर्वैगुणैस्तत्र समासते सुराः ।*

*हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा*

*मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥*

जिसमें भगवान् के प्रति अटल भक्ति है उसमें देवताओं के समस्त सद्गुण रहते हैं, किन्तु इसके विपरीत जो भगवान् का भक्त नहीं है, वह कल्पना (चिन्तन) के अन्धकार में भटकता रहता है और नाशवान भौतिकता में लगा रहता है। श्रीमद्भागवत (११.११.१८) का कथन है—

*शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि ।*

*श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥*

“भले ही कोई वेदों के समस्त दिव्य साहित्य में निष्णात् हो, किन्तु यदि वह परमेश्वर को नहीं जानता तो यह समझना चाहिए कि उसकी सारी शिक्षा पशु का भार उठाने तुल्य अथवा दूध न देने वाली गाय के पालने के समान है।”

इसी प्रकार भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने की छूट प्रत्येक व्यक्ति यहाँ तक कि स्त्री, शूद्र, वन्य जातियों या अन्य किसी भी पापमय स्थितियों में जी रहे जीवों के लिए भी है।

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां

स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः ।

यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षा-

स्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये ॥

( भागवत २.७.४६ )

यदि भगवद्भक्ति में निष्णात् प्रामाणिक गुरु द्वारा नराधमों को भी शिक्षा मिले तो वे भक्ति के उच्चस्थ पद तक उठ सकते हैं। जब नराधम तक भी इतने ऊँचे उठ सकते हैं, तो जो वैदिक ज्ञान में निष्णात् सर्वोच्च हैं उनके विषय में कुछ कहना ही क्या है! निष्कर्ष यह निकला कि भगवद्भक्ति के द्वार सबों के लिए खुले हैं, चाहे वे जो भी हों। यह सब प्रकार के लोगों द्वारा भक्ति से लाभ उठाये जाने की पुष्टि है।

अतः हर एक के लिए, यहाँ तक कि यदि वह मनुष्य न हो तो भी, प्रामाणिक गुरु की शिक्षा द्वारा प्राप्त पूर्णज्ञान सहित भगवान् की भक्ति की सलाह दी गई है। *गरुड़ पुराण* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

कीटपक्षिमृगाणां च हरौ संन्यस्तचेतसाम् ।

ऊर्ध्वमेव गतिं मन्ये किं पुनर्ज्ञानिनां नृणाम् ॥

“जहाँ कीटों, पक्षियों तथा पशुओं तक को भगवान् की दिव्य भक्ति के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित होने पर उच्चतम सिद्धि-पद तक ऊपर उठने का आश्वासन प्राप्त हो, वहाँ मनुष्यों में *ज्ञानियों* के विषय में क्या कहा जाय ?”

अतः भगवान् की भक्तिमय सेवा करने के लिए समुचित योग्य पात्रों के ढूँढे जाने की आवश्यकता नहीं होती है चाहे वे शिष्ट हों या अशिक्षित, विद्वान हों अथवा मूर्ख आसक्त हों या विरक्त मुक्त हों या मुक्ति के कामी भक्ति करने में सक्षम हों या अक्षम। सभी लोग उचित पथ-प्रदर्शन से भक्ति करते हुए

परम पद को प्राप्त हो सकते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.३०, ३२) में इस प्रकार हुई है—

*अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।*

*साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥*

*मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।*

*स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥*

यदि समस्त प्रकार के पापकर्मों में रत कोई व्यक्ति उचित पथ-निर्देशन में भगवान् की भक्ति करता है, तो उसे निस्सन्देह परम पवित्र पूर्ण पुरुष समझना चाहिए। अतः कोई भी पुरुष या स्त्री, चाहे वह जो भी हो और जैसा भी हो—यहाँ तक कि पतित स्त्री, शूद्र, वैश्य या इनसे भी निम्नपुरुष, यदि भगवान् के चरणकमलों की निष्ठापूर्वक शरण ग्रहण करता है, तो वह भगवान् के धाम को लौटकर जीवन की परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यही निष्ठा एकमात्र पात्रता (योग्यता) है, जिससे वह जीवन के उच्च पूर्ण पद को प्राप्त कर सकता है और जब तक ऐसी निष्ठा जागृत नहीं होती तब तक भौतिक दृष्टि से शुद्धि, अथवा अशुद्धि, ज्ञान अथवा अज्ञान में अन्तर दिखता है। अग्नि तो सदैव अग्नि रहती है, अतः जब कोई जाने या अनजाने अग्नि को छूता है, तो अग्नि बिना भेदभाव के अपना कार्य करती है। नियम है—*हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।* सर्वशक्तिमान् भगवान् भक्त के सभी प्रकार के समस्त पापफलों को शुद्ध कर सकता है, जिस प्रकार सूर्य अपनी शक्तिशाली किरणों से सभी प्रकार के संदूषणों को संदमित करता है। “भगवान् के शुद्ध भक्त पर भौतिक सुख के आकर्षण का रंग नहीं चढ़ता”। शास्त्रों में सैकड़ों-हजारों ऐसी सूक्तियाँ हैं—*आत्मारामाश्च मुनयः—स्वरूपसिद्ध पुरुष भी भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति के प्रति अकृष्ट होते हैं। केचित् केवलया भक्त्या वासुदेव परायणाः—* केवल श्रवण तथा कीर्तन से मनुष्य भगवान् वासुदेव का परम भक्त बन जाता है। न चलति *भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धम् अपि स वैष्णवाग्रयः—* जो व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों से एक क्षण के लिए भी नहीं हटता उसे समस्त वैष्णवों में सबसे बड़ा समझा जाता है। *भगवत्पार्षदतां प्राप्ते मत्सेवया प्रतीतं ते—*शुद्ध भक्तों को भगवान् की संगति प्राप्त करने का पूरा-पूरा विश्वास रहता है और इस तरह वे भगवान् की दिव्य सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं। अतः समस्त भूखण्डों, लोकों तथा



ब्रह्माण्डों में भक्तियोग प्रचलित है। यही *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य शास्त्रों का कथन है। *सर्वत्र* का अर्थ है भगवान् की सृष्टि के प्रत्येक भाग में। भगवान् की सेवा समस्त इन्द्रियों से या मन से की जा सकती है। दक्षिण भारत में जिस ब्राह्मण ने केवल अपने मन के बल पर भगवान् की सेवा की थी उसे यथार्थ में भगवान् के दर्शन हुए। जो भक्त अपनी किसी भी इन्द्रिय को पूर्णतः भक्ति गुण में लगाता है उसकी सफलता निश्चित है। भगवान् की सेवा किसी भी वस्तु से—यहाँ तक कि सर्व साधारण वस्तु जैसे फल, फूल, पत्ती या कि थोड़े से जल द्वारा जो संसार भर में सर्वत्र बिना मूल्य के ही उपलब्ध हैं, की जा सकती है। भगवान् ब्रह्माण्ड भर के जीवों द्वारा इसी प्रकार सेवित हैं। केवल श्रवण, कीर्तन या उनकी लीलाओं के पठन से, पूजन से या उन्हें मानने से ही उनकी सेवा हो जाती है।

*भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य स्वकीय कर्मों के फल अर्पण करने से भी भगवान् की सेवा कर सकता है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वह करता क्या है। सामान्य रूप से लोग कह सकते हैं कि वे जो भी करते हैं वह ईश्वर की प्रेरणा से करते हैं, किन्तु यही सब कुछ नहीं है। मनुष्य को वास्तव में भगवान् के सेवक के रूप में कार्य करना चाहिए। *भगवद्गीता* (९.२७) में भगवान् कहते हैं—

*यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।*

*यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥*

जो तुम्हें अच्छा लगे या आसान लगे, वही करो जो चाहो सो खाओ; जो भी यज्ञ करना हो करो जो भी दान देना हो दो और जो भी तपस्या करनी हो करो किन्तु प्रत्येक कार्य केवल भगवान् के लिए होना चाहिए। यदि तुम कोई कार्य करते हो या कोई नौकरी स्वीकार करते हो तो भगवान् के हेतु करो। जो भी खाओ, वही भगवान् को भी अर्पित करो और आश्वस्त रहो कि वे उस भोजन को पाने के बाद तुम्हें लौटा देंगे। वे परम पूर्ण हैं, अतः जो भी भक्त द्वारा अर्पित किया जाता है उसे वे भक्त के प्रेमवश ग्रहण करते हैं, किन्तु पुनः प्रसाद के रूप में भक्त को लौटा देते हैं जिसे खाकर वह प्रसन्न रहे। दूसरे शब्दों में, ईश्वर के सेवक बनो और उसी भाव में शान्तिपूर्वक रहकर अन्त में भगवान् के धाम को प्राप्त करो।

*स्कन्द पुराण* में कहा गया है—

*यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु ।*

*नूनं सम्पूर्णतामेति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥*

“मैं अच्युत भगवान् को नमस्कार करता हूँ, क्योंकि केवल उनके पवित्र नाम के स्मरण या उच्चारण से समस्त तपों, सकाम कर्मों, यज्ञों का फल प्राप्त होता है और इस विधि का सर्वत्र पालन किया जा सकता है।” भागवत (२.३.१०) में भी कहा गया है—

*अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।*

*तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥*

“मनुष्य को चाहिए कि वह पूर्ण सिद्धि के लिए अच्युत भक्तियोग पथ का अनुसरण करे, भले ही वह सकाम हो अथवा निष्काम”। मनुष्य को प्रत्येक देव तथा देवी की पूजा करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान् उन सबों के मूलरूप हैं। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ों को सींचने से उसकी समस्त टहनियाँ तथा पत्तियाँ हरी-भरी हो जाती हैं उसी प्रकार भगवान् की सेवा करने से अन्य सभी देवों तथा देवियों की सेवा बिना किसी प्रयास के, हो जाती है। भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतः उनकी सेवा भी सर्वव्यापी है। इस तथ्य का समर्थन स्कन्द पुराण में इस प्रकार हुआ है—

*अर्चिते देवदेवेशे शंखचक्रगदाधरे ।*

*अर्चिताः सर्वदेवाः स्युर्यतः सर्वगतो हरिः ॥*

जब शंख, चक्र, गदा तथा पद्मधारी श्रीभगवान् की पूजा की जाती है, तो अन्य सभी देवों की पूजा स्वतः हो जाती है, क्योंकि श्रीभगवान् हरि सर्वव्यापी हैं। अतः सभी प्रकार से प्रत्येक प्राणी ऐसी भगवद्-भक्ति से लाभान्वित होता है। ऐसे कार्य से भगवान् की पूजा करने वाला, पूजित होने वाले भगवान्, जिस हेतु पूजा की जाती है, पूर्ति का स्रोत, जहाँ पूजा की जाती है—ये सभी लाभान्वित होते हैं।

यहाँ तक कि भौतिक संसार के प्रलय के समय भी भक्तियोग की विधि व्यवहृत हो सकती है। कालेन नष्टा प्रलये वाणीयम्—प्रलय के समय भगवान् की पूजा की जाती है, क्योंकि वे वेदों की नष्ट होने से रक्षा करते हैं। वे प्रत्येक युग में पूजे जाते हैं। श्रीमद्भागवत (१२.३.५२) में कहा गया है—

कृते यद्भ्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।

द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्भरिकीर्तनात् ॥

विष्णु पुराण में लिखा गया है—

स हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः ।

यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत् ॥

“यदि एक क्षण के लिए भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, वासुदेव का स्मरण नहीं किया जाता तो यह सबसे बड़ी हानि है, सबसे बड़ा भ्रम है और सबसे बड़ी विडम्बना है।” जीवन की समस्त अवस्थाओं में भगवान् पूजे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, महाराज प्रह्लाद तथा महाराज परीक्षित ने अपनी माताओं के गर्भ में भी भगवान् की पूजा की; ध्रुव महाराज ने केवल पाँच वर्ष की आयु में भगवान् की पूजा की; महाराज अम्बरीष ने अपनी पूर्ण युवावस्था में भगवान् की पूजा की और महाराज धृतराष्ट्र ने अपनी वृद्धायु में अत्यन्त विक्षिप्तावस्था में भी भगवान् की पूजा की। अजामिल ने मृत्यु के सन्निकट रहते हुए भी भगवान् की पूजा की और चित्रकेतु ने स्वर्ग तथा नरक में रहकर भी भगवान् की पूजा की। नरसिंह पुराण में कहा गया है कि जब नरक में रहने वालों ने भगवान् के पवित्र नाम का जप प्रारम्भ किया, तो वे नरक से स्वर्ग जाने लगे। दुर्वासा मुनि ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है—मुच्येत यन्नाम्युदिते नारकोऽपि—केवल भगवन्नाम-जप से नरक के वासी अपनी-अपनी नारकीय यातना से मुक्त हो गये। अतः शुकदेव गोस्वामी द्वारा महाराज परीक्षित को जो उपदेश दिया गया उसका निष्कर्ष श्रीमद्भागवत (२.१.११) में इस प्रकार है—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।

योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥

“हे राजन्! अन्ततः यह तय हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह संन्यासी हो, योगी हो अथवा सकाम कर्मी हो, वांछित फल की प्राप्ति के लिए निर्भय होकर भगवान् के पवित्र नाम का जप करना चाहिए।”

इसी प्रकार विभिन्न शास्त्रों में अप्रत्यक्ष रूप से इंगित किया गया है—

१. भले ही कोई समस्त वेदों तथा शास्त्रों में निष्णात् हो, किन्तु यदि वह परमेश्वर का भक्त नहीं है, तो वह नराधम माना जाता है।

२. गरुड़ पुराण, बृहन्नारदीय पुराण तथा पद्म पुराण में भी इसी की पुनरावृत्ति की गई है—जो भगवद्भक्ति से रहित है उसके वैदिक ज्ञान तथा तपस्या से क्या लाभ ?

३. हजारों प्रजापतियों की एक भगवद्भक्त से तुलना कैसी ?

४. शुकदेव गोस्वामी ने श्रीमद्भागवत (२.४.१७) में कहा है कि भगवद्भक्ति के बिना न संन्यासी, न ही दयालु, प्रसिद्ध व्यक्ति, महान् दार्शनिक, महान् तान्त्रिक या अन्य कोई भी व्यक्ति वांछित फल नहीं पा सकते।

५. भले ही कोई स्थान स्वर्ग से भी अधिक महिमामय हो, किन्तु यदि वहाँ वैकुण्ठ के स्वामी या उनके भक्त की महिमा का गान नहीं होता तो उसको तुरन्त छोड़ देना चाहिए।

६. शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा में लगे रहने के लिए पाँच प्रकार की मुक्तियों को अस्वीकार कर देता है।

अतः अन्तिम निष्कर्ष यही है कि सर्वत्र तथा सर्वदा भगवान् की महिमा का गान होना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि उनकी महिमा का श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण करे, क्योंकि जीवन की परम सिद्ध अवस्था यही है। सकाम कर्म तो भोग्य शरीर तक सीमित है योग-शक्तियों की प्राप्ति तक, योग शुष्क दर्शन दिव्य ज्ञान की उपलब्धि तक और जहाँ तक दिव्य ज्ञान का सम्बन्ध है, वह मोक्ष-लाभ तक सीमित है। यदि इन सबको सम्पन्न किया भी जाता है, तो इनके मार्ग में त्रुटियों के होने की सम्भावना रहती है। किन्तु भगवान् की दिव्य भक्ति को ग्रहण करने की न तो कोई सीमा है न ही नीचे गिरने का कोई भय है। भगवत्कृपा से यह विधि स्वतः अन्तिम अवस्था को प्राप्त होती है। भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था में ज्ञान आवश्यक है, किन्तु उच्चतर अवस्था में ऐसे ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं होती। अतः उन्नति का सर्वोत्तम तथा निश्चित पथ भक्तियोग ही है।

कभी-कभी श्रीमद्भागवत के उपर्युक्त चार श्लोकों के निचोड़ का उपयोग निर्विशेषवादी अपने पक्ष के समर्थन हेतु करता है, किन्तु ध्यान देना होगा कि इन चारों श्लोकों का वर्णन सर्वप्रथम श्रीभगवान् ने

स्वयं किया था। अतः भगवान् के विषय में कोई धारणा न होने से निर्विशेषवादी को उनमें प्रवेश करने की कोई गुंजाईश नहीं है। अतः इन श्लोकों के निचोड़ की निर्विशेषवादी चाहे जो भी व्याख्या करे, वह ब्रह्मा से प्राप्त शिष्य-परम्परा में दीक्षित व्यक्तियों द्वारा मान्य नहीं होगी जैसाकि निम्नलिखित श्लोकों से स्पष्ट हो जाएगा। इसके अतिरिक्त श्रुति पुष्टि करती है कि जिसे अपने शैक्षणिक ज्ञान का गर्व होता है उसके समक्ष श्रीभगवान् कभी प्रकट नहीं होते। *कठोपनिषद्* के (१.२.२३) श्रुति मन्त्र का स्पष्ट कथन है—

*नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो*

*न मेधया न बहुधा श्रुतेन।*

*यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-*

*स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥*

यह सारी बात श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं, अतः जिसकी पहुँच भगवान् के सगुण रूप तक नहीं है, वह *श्रीमद्भागवत* के सार को शिष्य-परम्परा में किसी *भागवत* से शिक्षा ग्रहण किये बिना शायद ही समझ सके।

**एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना ।**

**भवान् कल्प-विकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥ ३७ ॥**

**शब्दार्थ**

एतत्—यह; मतम्—निष्कर्ष, निर्णय; समातिष्ठ—स्थित रहते हैं; परमेण—परम; समाधिना—समाधि द्वारा, ध्यान के एकाग्रिकरण से; भवान्—आप; कल्प—बीच की प्रलय; विकल्पेषु—अन्तिम प्रलय में; न विमुह्यति—मोहित नहीं करेगा; कर्हिचित्—कुछ भी।

हे ब्रह्मा, तुम मन को एकाग्र करके इस निर्णय का पालन करो। तुम्हें, न तो आंशिक और न ही पूर्ण प्रलय के समय किसी प्रकार का गर्व विचलित कर सकेगा।

**तात्पर्य :** जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* के दसवें अध्याय में सम्पूर्ण गीता का सारांश चार श्लोकों में—*अहं सर्वस्य प्रभवः* इत्यादि में दिया है, उसी प्रकार सम्पूर्ण *श्रीमद्भागवत* के सार को चार श्लोकों में—*अहं एवासम् एवाग्रे* इत्यादि में रख दिया गया है। इस प्रकार *भागवत* के महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष का गुह्य सार *श्रीमद्भागवत* के मूल वक्ता द्वारा रख दिया गया है और वे ही अर्थात् भगवान्

श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* के भी मूल वक्ता थे। अनेक वैयाकरणों तथा झगड़ालू अभक्तों ने *श्रीमद्भागवत* के इन चार श्लोकों की झूठी व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, किन्तु स्वयं भगवान् ने ब्रह्माजी को उपदेश दिया कि वे उनके द्वारा बताए गये सुस्थिर निर्णय (निष्कर्ष) से विचलित न हों। *श्रीमद्भागवत* के साररूपी इन चार श्लोकों के शिक्षक भगवान् थे और ब्रह्मा ज्ञान प्राप्तकर्ता थे। शब्दाडम्बर द्वारा *अहं* शब्द की भ्रान्त व्याख्या से *श्रीमद्भागवत* के कट्टर अनुयायियों को विचलित नहीं होना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* श्रीभगवान् तथा उनके भक्तों का, जो *भागवत* कहलाते हैं, मूल पाठ है और किसी भी बाहरी व्यक्ति को भक्ति के इस गुह्य साहित्य तक पैठ नहीं होने देना चाहिए। किन्तु दुर्भाग्यवश निर्विशेषवादी, जिसका भगवान् से कोई सम्बन्ध नहीं है, कभी-कभी अपने व्याकरण सम्बन्धी अल्पज्ञान तथा शुष्कचिन्तन से *श्रीमद्भागवत* की व्याख्या करता है। अतः भगवान् ब्रह्माजी को आगाह करते हैं (और ब्रह्मा के माध्यम से शिष्य-परम्परा के समस्त भावी भक्तों को भी) कि मनुष्य को तथाकथित वैयाकरणों के निर्णय से या अन्य अल्पज्ञानियों के निर्णय से पथ-विचलित न होकर अपने मन को परम्परा पद्धति में सदैव स्थिर रखना चाहिए। संसारी ज्ञान के बल पर किसी को नवीन व्याख्या करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। अतः ब्रह्मा द्वारा प्राप्त ज्ञान पद्धति के आधार पर पहला सोपान है परम्परा पद्धति का पालन करने वाले प्रामाणिक गुरु के पास पहुँचना जो भगवान् का प्रतिनिधि होता है। किसी को अपने अधूरे संसारी ज्ञान के आधार पर अपना निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। गुरु समस्त प्रामाणिक वैदिक साहित्य के आधार पर शिष्य को सही मार्ग की शिक्षा देने में समर्थ होता है। वह अपने शिष्य को शब्दजाल में नहीं फँसाता। वह अपने शिष्य को अपने स्वयं के कार्यकलापों द्वारा भक्ति-सिद्धान्तों की शिक्षा देता है। मनुष्य सगुण भक्ति के बिना निर्विशेषवादियों तथा शुष्कचिन्तकों की तरह चिंतन करता रहता है और जन्म-जन्मांतर तक भी अन्तिम निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाता। प्रामाणिक गुरु के आदेशों के साथ-साथ शास्त्रों के नियमों का पालन करके शिष्य पूर्णज्ञान के पद को प्राप्त करता है, जिसका प्राकट्य सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति की विरक्ति के रूप में होता है। संसारी विवादकों को मनुष्य द्वारा इन्द्रिय-तृप्ति से विरक्त देखकर आश्चर्य होता है और भगवान् के साक्षात्कार करने का कोई भी प्रयास उन्हें रहस्यमय लगता है। ऐन्द्रिय जगत से विरक्त होना आत्म-

साक्षात्कार ब्रह्मभूत अवस्था कहलाती है, जो पराभक्ति की प्रारम्भिक अवस्था है। ब्रह्मभूत अवस्था आत्माराम अवस्था भी कहलाती है, जिसमें मनुष्य आत्मतुष्ट रहता है और सांसारिक इन्द्रिय-सुख की कामना नहीं करता। श्रीभगवान् के दिव्य ज्ञान को समझने के लिए यह पूर्ण तुष्टि की अवस्था उपयुक्त स्थिति है। *श्रीमद्भागवत* (१.२.२०) इसका समर्थन करता है।

*एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।*

*भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥*

इस आत्माराम स्थिति में, जो भक्ति करने के फलस्वरूप सांसारिक इन्द्रिय सुखोपभोग से पूर्ण विरक्ति के द्वारा प्रकट होती है, मनुष्य भगवत-तत्त्व को समझ सकता है।

ऐन्द्रिय जगत की इस पूर्ण तुष्टि तथा विरक्ति अवस्था में ही भगवत-तत्त्व के रहस्य को सभी गुह्य उलझनों सहित समझा जा सकता है, किसी व्याकरण या शुष्क चिन्तन से नहीं। चूँकि ब्रह्मा ऐसे ज्ञान को प्राप्त करने के योग्य थे, अतः भगवान् ने प्रसन्न होकर *श्रीमद्भागवत* के उद्देश्य को प्रकट किया। भगवान् का यह प्रत्यक्ष आदेश किसी भी भक्त के लिए, जो सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति से विरक्त है, सुलभ है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.१०) में कहा गया है—

*तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।*

*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥*

जो भक्त प्रीतिपूर्वक भगवान् की दिव्य भक्ति में लगे रहते हैं उन्हें भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से प्रत्यक्ष आदेश देते हैं जिससे वे भगवान् के धाम को लौटने के मार्ग में अग्रसर हो सकें। अतः केवल चिन्तन के आधार पर *श्रीमद्भागवत* के इन चार श्लोकों को समझने का प्रयास नहीं करना चाहिए, अपितु भगवान् के साक्षात् अनुभूति से उनके धाम वैकुण्ठ लोक के विषय में जानने का प्रयास करना चाहिए जैसाकि ब्रह्माजी ने किया। भक्तिजन्य दिव्य स्थिति को प्राप्त भक्त ही ऐसा वैकुण्ठ-साक्षात्कार करने में समर्थ हैं।

*गोपालतापनी उपनिषद्* (श्रुति) में कहा गया है—*गोपवेशो मे पुरुषः पुरस्ताद् आविर्बभूव—* ब्रह्माजी के समक्ष भगवान् ग्वाले के रूप में अर्थात् श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट हुए जिसका वर्णन बाद में

ब्रह्माजी ने ब्रह्म-संहिता (५.२९) में किया है।

चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-

लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।

लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रम सेव्यमानं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

ब्रह्माजी भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा करना चाहते हैं, जो सर्वोच्च वैकुण्ठ लोक, गोलोक वृन्दावन में वास करते हैं जहाँ वे ग्वाले के वेश में सुरभि गौवें पालते हैं और जहाँ हजारों लक्ष्मियाँ (गोपियाँ) प्रेम तथा आदरपूर्वक उनकी सेवा करती हैं।

अतः श्रीकृष्ण ही परमेश्वर के मूल रूप हैं (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्)। इस आदेश से भी यही स्पष्ट है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही तो श्रीकृष्ण हैं, वे सीधे नारायण या पुरुष-अवतार नहीं हैं। ये तो बाद के रूप हैं, अतः श्रीमद्भागवत का अर्थ है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण का बोध और श्रीमद्भागवत भगवद्गीता की तरह भगवान् की वाणी का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि श्रीमद्भागवत भगवद्विज्ञान है, जिसमें भगवान् तथा उनके धाम का पूरी तरह बोध होता है।

श्री-शुक उवाच

सम्प्रदिश्यैवमजनो जनानां परमेष्ठिनम् ।

पश्यतस्तस्य तद् रूपमात्मनो न्यरुणद्धरिः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; सम्प्रदिश्य—ब्रह्माजी को पूरी तरह उपदेश देकर; एवम्—इस प्रकार; अजनः—परमेश्वर; जनानाम्—जीवात्माओं के; परमेष्ठिनम्—परम नेता, ब्रह्मा को; पश्यतः—देखते हुए; तस्य—उसका; तद् रूपम्—उस दिव्य रूप को; आत्मनः—परमेश्वर का; न्यरुणत्—अन्तर्धान हो गये; हरिः—भगवान्।

शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित से कहा—जीवात्माओं के नायक ब्रह्मा को अपने दिव्य रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि इस प्रकार उपदेश देते दिखे और फिर अन्तर्धान हो गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् अजनः अर्थात् परम पुरुष हैं और वे ब्रह्मा को



अपना दिव्य रूप ( *आत्मनो रूपम्* ) दिखाते हुए चार श्लोकों में *श्रीमद्भागवत* के सार का उपदेश दे रहे थे। वे *जनानाम्* अर्थात् समस्त पुरुषों में *अजनः* अर्थात् परम पुरुष हैं। समस्त जीवात्माएँ पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं और ऐसे व्यक्तियों में भगवान् हरि सर्वश्रेष्ठ हैं जैसी कि इस श्रुति मन्त्र से पुष्टि होती है— *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*। अतः दिव्य जगत् में निराकार रूप के लिए कोई स्थान नहीं है जैसाकि भौतिक संसार में कोई निराकार रूप नहीं है। जब भी चेतना (ज्ञान) होती है, तो साकार रूप सामने आता है। आध्यात्मिक जगत् में प्रत्येक वस्तु ज्ञान से पूर्ण है, अतः दिव्य जगत् की प्रत्येक वस्तु स्थल, जल, वृक्ष, पर्वत, नदी, मनुष्य पशु, पक्षी इसी गुण अर्थात् चेतना से पूर्ण है, अतः वहाँ की प्रत्येक वस्तु व्यष्टि तथा साकार है। सर्वश्रेष्ठ वैदिक साहित्य *श्रीमद्भागवत* से हमें यह जानकारी प्राप्त होती है और श्रीभगवान् ने यह सूचना ब्रह्माजी को इसीलिए दी थी कि जीवात्माओं के नायक होने के कारण वे इस सन्देश को सारे विश्व में प्रसारित करके भक्तियोग की परम ज्ञानमयी शिक्षा प्रदान कर सकें। ब्रह्माजी ने अपने प्रिय पुत्र नारद को *श्रीमद्भागवत* के इसी सन्देश का उपदेश दिया। नारद ने इसे व्यासदेव को दिया और उन्होंने शुकदेव गोस्वामी को। शुकदेव स्वामी के सौजन्य तथा महाराज परीक्षित की कृपा से हमें यह *श्रीमद्भागवत* प्राप्त है, जिससे हम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के विज्ञान को स्थायी रूप से सीख सकते हैं।

**अन्तर्हितेन्द्रियार्थाय हरये विहिताञ्जलिः ।**

**सर्व-भूतमयो विश्वं ससर्जेंदं स पूर्ववत् ॥ ३९ ॥**

**शब्दार्थ**

अन्तर्हित—अन्तर्धान होने पर; इन्द्रिय-अर्थाय—समस्त इन्द्रियों के लक्ष्य, श्रीभगवान् के लिए; हरये—भगवान् के लिए; विहित-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर; सर्व-भूत—समस्त जीवात्माओं; मयः—से पूर्ण; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; ससर्ज—उत्पन्न किया; इदम्—यह; सः—उसने ( ब्रह्माजी ); पूर्व-वत्—पहले की भाँति।

भक्तों की इन्द्रियों को दिव्य आनन्द प्रदान करने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि के अन्तर्धान हो जाने पर ब्रह्माजी हाथ जोड़े हुए ब्रह्माण्ड की जीवात्माओं से पूर्ण वैसी ही सृष्टि पुनः करने लगे जिस प्रकार वह इसके पूर्व थी।

**तात्पर्य :** पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि समस्त जीवात्माओं की इन्द्रियों को परिपूर्ण करने के उपादान हैं। बहिरंगा शक्ति की चकाचौंध में मोहित होकर जीवात्माएँ परमात्मा के इच्छाओं की पूर्ति करने की

बजाय अपनी इन्द्रियों की पूजा प्रारम्भ कर देती हैं।

हरि-भक्ति-सुधोदय (१३.२) में निम्नलिखित श्लोक आया है—

अक्षणोः फलं त्वाद्दशदर्शनं हि

तनोः फलं त्वाद्दशगात्रसङ्गः ।

जिह्वाफलं त्वाद्दशकीर्तनं हि

सुदुर्लभा भागवता हि लोके ॥

“हे भगवद्भक्त! आँखें तुम्हें देखकर सफल हो जाती हैं और तुम्हारे देह के स्पर्श से स्पर्श की पूर्ति हो जाती है। जिह्वा तुम्हारे गुणों के गान के लिए है, क्योंकि इस संसार में भगवान् का शुद्ध भक्त पाना अत्यन्तदुर्लभ है।”

प्रारम्भ में जीवात्माओं को इन्द्रियाँ इस प्रयोजन के लिए प्रदान की गई थीं कि वे उनसे भगवान् अथवा उनके भक्तों की प्रीतिपूर्वक सेवा करें, किन्तु बद्धजीव बहिरंगा शक्ति के मोह में आकर इन्द्रियसुख से सम्मोहित हो गये। अतएव ईश्वर चेतना की सारी प्रक्रिया इन्द्रियों के बद्ध कार्यों को सही मार्ग पर लाना और फिर से उन्हें भगवान् की सेवा में लगाना है। इसलिए ब्रह्माजी ने पुनः सृष्ट ब्रह्माण्ड में कार्य करने के लिए बद्धजीवों की फिर से सृष्टि करके अपनी इन्द्रियों को भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा में लगाया। इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड भगवान् की इच्छा से उत्पन्न और विनष्ट होता है। इसकी सृष्टि बद्धजीवों को अवसर प्रदान करने के लिए की जाती है, जिससे वे भगवान् के धाम वापस जाने की दिशा में कार्य कर सकें और ब्रह्माजी, नारदजी, व्यासजी तथा उनकी मंडली इसी उद्देश्य से भगवान् के कार्य में लग जाते हैं। यह कार्य है इन्द्रियतुष्टि के दायरे से बद्धजीवों का उद्धार करना तथा इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में प्रवृत्त करने की सामान्य स्थिति में वापस ले जाना। किन्तु निर्विशेषवादी ऐसा करने के बजाय बद्धजीवों को और भगवान् को भी चेतनाहीन बनाने लगे रहते हैं। बद्धजीवों के साथ यह दुर्व्यवहार है। इन्द्रियों की रुग्ण अवस्था दोष के उपचार द्वारा ठीक की जा सकती है न कि इन्द्रियों के उच्छेदन से। यदि आँखों में कोई रोग हो जाय तो ठीक से देखने के लिए उनका उपचार करना चाहिए। आँखों को निकाल लेना तो कोई उपचार नहीं हुआ। इसी प्रकार सारा भवरोग इन्द्रिय-तृप्ति पर

आधारित है और रुग्णावस्था से मुक्ति का अर्थ है कि इन्द्रियों को भगवान् का सौंदर्य निहारने, उनकी महिमा सुनने तथा उनके लिए कर्म करने की ओर लगाया जाय। इस प्रकार ब्रह्माजी ने फिर से ब्रह्माण्ड के कार्यों की सृष्टि की।

**प्रजापतिर्धर्म-पतिरेकदा नियमान् यमान् ।**

**भद्रं प्रजानामन्विच्छन्नातिष्ठत् स्वार्थ-काम्यया ॥ ४० ॥**

**शब्दार्थ**

प्रजा-पतिः—समस्त जीवात्माओं के पूर्वज; धर्म-पतिः—धर्म के पिता; एकदा—एक बार; नियमान्—विधि-विधानों; यमान्—संयम के नियम; भद्रम्—कल्याण; प्रजानाम्—जीवों का; अन्विच्छन्—इच्छा से; आतिष्ठत्—स्थित; स्व-अर्थ—अपना हित; काम्यया—कामना करते हुए।

एक बार जीवों के पूर्वज तथा धर्म के पिता ब्रह्माजी ने समस्त जीवात्माओं के कल्याण में ही अपना हित समझते हुए विधिपूर्वक यम-नियमों को धारण किया।

**तात्पर्य :** यम-नियमों को धारण किये बिना कोई उच्च पद पर आसीन नहीं हो सकता। इन्द्रियतृप्ति का असंयमित जीवन पशु जीवन है और ब्रह्माजी ने अपनी संततियों को उच्चतर कर्तव्यों के निर्वाह हेतु इन्द्रियों पर संयम रखने की शिक्षा दी। वे भगवान् के दास के रूप में सभी का कल्याण चाह रहे थे और जो भी अपने कुल तथा पीढ़ियों के कल्याण की कामना करता है उसे नैतिक धार्मिक जीवन बिताना होता है। उच्चतम नैतिक जीवन है भगवद्भक्त बनना, क्योंकि शुद्ध भक्त में भगवान् के सभी गुण आ जाते हैं। इसके विपरीत, जो ईश्वर भक्त नहीं है, वह सांसारिकता में कितना ही पटु क्यों न हो, किसी उत्तम गुण से सम्पन्न नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मा तथा उनकी शिष्य-परम्परा के अनेक व्यक्ति जो भगवान् के शुद्ध भक्त हैं जब तक स्वयं वैसा आचरण नहीं करते तब तक अपने आश्रितों को किसी भी प्रकार का उपदेश नहीं देते।

**तं नारदः प्रियतमो रिक्थादानामनुव्रतः ।**

**शुश्रूषमाणः शीलेन प्रश्रयेण दमेन च ॥ ४१ ॥**

**शब्दार्थ**

तम्—उसको; नारदः—नारद मुनि; प्रियतमः—अत्यन्त प्रिय; रिक्थ-आदानाम्—उत्तराधिकारी पुत्रों का; अनुव्रतः—अत्यन्त आज्ञाकारी; शुश्रूषमाणः—सदैव सेवा के लिए उद्यत; शीलेन—सदाचरण से; प्रश्रयेण—विनयशीलता से; दमेन—इन्द्रिय-संयम से; च—भी।

ब्रह्मा के उत्तराधिकारी पुत्रों में सर्वाधिक प्रिय नारद अपने पिता की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहते हैं और अपने पिता के उपदेशों का अत्यन्त संयम, विनय तथा सौम्यता से पालन करते हैं।

मायां विविदिषन् विष्णोर्मायेशस्य महा-मुनिः ।

महा-भागवतो राजन् पितरं पर्यतोषयत् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

मायाम्—शक्तियाँ; विविदिषन्—जानने की इच्छा से; विष्णोः—भगवान् की; माया-ईशस्य—समस्त शक्तियों के स्वामी का; महा-मुनिः—ऋषि; महा-भागवतः—भगवान् का उत्कृष्ट भक्त; राजन्—हे राजा; पितरम्—अपने पिता को; पर्यतोषयत्—अत्यन्त प्रसन्न किया।

हे राजन्, नारद ने अपने पिता को अत्यधिक प्रसन्न कर लिया और समस्त शक्तियों के स्वामी विष्णु की शक्तियों के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की, क्योंकि नारद समस्त ऋषियों तथा समस्त भक्तों में सर्वोपरि हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों के स्रष्टा होने के कारण ब्रह्मा अनेक विख्यात पुत्रों के जनक हैं, यथा दक्ष नारद तथा सनकादि के जनक हैं। वेदों द्वारा प्रचारित मानव ज्ञान के तीन विभागों—कर्म काण्ड, ज्ञान काण्ड तथा उपासना काण्ड—में से देवर्षि नारद ने अपने पिता ब्रह्मा से उपासना काण्ड, दक्ष ने कर्म काण्ड तथा सनक, सनातनादि ने ज्ञान काण्ड को उत्तराधिकार में प्राप्त किया। किन्तु इन सबमें से नारद को उनके सदाचार, आज्ञापालन, विनयशीलता तथा पिता के प्रति सेवा सन्नद्धता के कारण ब्रह्मा का अत्यन्त प्रिय पुत्र कहा गया है। नारद मुनियों में सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि समस्त भक्तों में वे श्रेष्ठ हैं। नारद भगवान् के अनेक प्रसिद्ध भक्तों के गुरु हैं। वे प्रह्लाद, ध्रुव, व्यास से लेकर वन पशुओं के हन्ता किरात तक के गुरु हैं। उनका एकमात्र कार्य हर एक को भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति की ओर उन्मुख करना है। इसीलिए इन सारे गुणों के कारण वे अपने पिता के सर्वाधिक प्रिय पुत्र हैं और नारद का प्रथम कोटि का भगवद्भक्त होना इसका एकमात्र कारण है। भक्तगण समस्त शक्तियों के स्वामी परमेश्वर के विषय में अधिकाधिक जानने के इच्छुक रहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.९) में कहा गया है—

*मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।*

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

परमेश्वर अनन्त हैं और उनकी शक्तियाँ भी असीम हैं। उन्हें कोई पूर्णतः नहीं जान सकता। ब्रह्माजी इस ब्रह्माण्ड के सबसे महान जीव होने तथा भगवान् से प्रत्यक्ष उपदेश प्राप्त करने के कारण अन्यो की अपेक्षा अधिक जानते हैं, यद्यपि ऐसा ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता। अतः प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह ब्रह्मा की शिष्य-परम्परा में, जो नारद से व्यास और व्यास से शुकदेव आदि से आगे चली आ रही है, गुरु से अनन्त भगवान् के विषय में जिज्ञासा करें।

तुष्टं निशाम्य पितरं लोकानां प्रपितामहम् ।

देवर्षिः परिपप्रच्छ भवान्यन् मानुपृच्छति ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तुष्टम्—प्रसन्न; निशाम्य—देखकर; पितरम्—पिता को; लोकानाम्—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का; प्रपितामहम्—परदादा; देवर्षिः—नारद ऋषि ने; परिपप्रच्छ—पूछा; भवान्—तुम; यत्—जो; मा—मुझसे; अनुपृच्छति—पूछ रहे हो।

जब नारद ने देखा कि समस्त ब्रह्माण्ड के प्रपितामह ब्रह्माजी मुझ पर प्रसन्न हैं, तो महर्षि नारद ने अपने पिता से विस्तार में भी पूछा।

तात्पर्य : किसी सिद्ध महात्मा से आध्यात्मिक या दिव्य ज्ञान को समझने की विधि पाठशाला के शिक्षक से कोई सामान्य प्रश्न पूछने जैसी नहीं है। आजकल शिक्षकों को ज्ञान प्रदान करने के एवज में धन दिया जाता है, किन्तु गुरु वेतनभोगी नहीं होता, न ही वह बिना अधिकार के शिक्षा दे सकता है। भगवद्गीता (४.३४) में दिव्य ज्ञान को समझने की विधि का निर्देश इस प्रकार है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

अर्जुन को सलाह दी गई थी कि वह किसी सिद्ध पुरुष से समर्पण, प्रश्न तथा सेवा द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त करे। दिव्य ज्ञान प्राप्त करना डालरों के विनिमय जैसा व्यापार नहीं है। ऐसा ज्ञान गुरु की सेवा करके प्राप्त किया जाता है। जिस प्रकार से ब्रह्माजी ने भगवान् को पूरी तरह तुष्ट करके उनसे प्रत्यक्ष दिव्य ज्ञान प्राप्त किया, उसी प्रकार गुरु को प्रसन्न करके दिव्य ज्ञान प्राप्त करना होता है। गुरु की तुष्टि से ही दिव्य ज्ञान आत्मसात् होता है। केवल वैयाकरण बन जाने से दिव्य ज्ञान नहीं समझा जा सकता।

वेदों की घोषणा है ( श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३) —

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

“जिसकी अडिग भक्ति भगवान् तथा गुरु में होती है, उसके ही लिए दिव्य ज्ञान स्वतः प्रकट होता है।” शिष्य तथा गुरु का ऐसा सम्बन्ध शाश्वत है। आज जो शिष्य है, वही आगे चलकर गुरु बनेगा। और जब तक शिष्य अपने गुरु की आज्ञा का कड़ाई से पालन नहीं करता तब तक वह प्रामाणिक तथा वैध गुरु नहीं बन सकता। ब्रह्माजी ने भगवान् से शिष्य रूप में वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया और इसे अपने प्रिय शिष्य नारद को प्रदान किया। इसी प्रकार नारद ने गुरु के रूप में यह ज्ञान व्यास को हस्तान्तरित किया और आगे भी ऐसा ही हुआ। अतः तथाकथित औपचारिक गुरु तथा शिष्य ब्रह्मा तथा नारद अथवा नारद तथा व्यास के प्रतिरूप नहीं हो सकते। ब्रह्मा तथा नारद का सम्बन्ध एक वास्तविकता (सत्य) थी, किन्तु ठग तथा ठगे जाने वाले का सम्बन्ध तथाकथित औपचारिकता है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि नारद न केवल शिष्ट, विनीत तथा आज्ञाकारी थे, वरन् वे आत्मसंयमी भी थे। जो आत्मसंयमी नहीं है, विशेष रूप से कामी जीवन में, वह न तो शिष्य बन सकता है, न गुरु। मनुष्य को वाणी, क्रोध, जीभ, मन, उदर तथा कामेन्द्रियों पर संयम रखने की अनुशासनिक शिक्षा मिलनी चाहिए। जो उपर्युक्त विशिष्ट इन्द्रियों पर संयम प्राप्त कर लेता है, वह गोस्वामी कहलाता है। गोस्वामी हुए बिना न तो कोई शिष्य बन सकता है और न गुरु। इन्द्रिय-संयम के बिना तथाकथित गुरु निश्चय ही वंचक (ठग) है और उसका शिष्य वंचित है।

हमें इस लोक के अनुभव की तरह ब्रह्माजी को मृत प्रपितामह नहीं समझना चाहिए। वे सबसे बड़े प्रपितामह हैं और अब भी जीवित हैं। नारद भी जीवित हैं। *भगवद्गीता* में ब्रह्मलोक के निवासियों की आयु का उल्लेख है। ये क्षुद्र पृथ्वीलोकवासी मुश्किल से ब्रह्मा के एक दिन की अवधि की गणना कर सकते हैं।

तस्मा इदं भागवतं पुराणं दश-लक्षणम् ।

प्रोक्तं भगवता प्राह प्रीतः पुत्राय भूत-कृत् ॥ ४४ ॥

### शब्दार्थ

तस्मै—तत्पश्चात्; इदम्—यह; भागवतम्—भगवान् की महिमा, अथवा भगवद्-ज्ञान; पुराणम्—उपवेद; दश-लक्षणम्—दस विशिष्टताएँ; प्रोक्तम्—वर्णित; भगवता—भगवान् द्वारा; प्राह—कहा; प्रीतः—संतुष्ट होकर; पुत्राय—पुत्र से; भूत-कृत्—ब्रह्माण्ड के स्रष्टा।

तब जाकर पिता ( ब्रह्मा ) ने अपने पुत्र नारद को श्रीमद्भागवत नामक उपवेद पुराण कह सुनाया जिसका वर्णन श्रीभगवान् ने उनसे किया था और जो दस लक्षणों से युक्त है।

तात्पर्य : यद्यपि चतुःश्लोकी श्रीमद्भागवत का उपदेश दिया गया था, किन्तु वह दस लक्षणों से सम्पन्न था, जिनकी व्याख्या अगले अध्याय में की जाएगी। चार श्लोकों में पहले यह बताया गया है कि सृष्टि के पूर्व भगवान् का अस्तित्व था, अतः श्रीमद्भागवत का शुभारम्भ वेदान्त सूक्ति जन्माद्यस्य से होता है। यद्यपि जन्माद्यस्य शुभारम्भ है, तो भी जिन चार श्लोकों में यह वर्णित है और जिनमें कहा गया है कि भगवान् सृष्टि से लेकर भगवद्धाम तक प्रत्येक वस्तु के मूल हैं, उसमें दस लक्षणों की व्याख्या हुई है। मनुष्य को गलत व्याख्या करके यह भूल नहीं करनी चाहिए कि भगवान् ने केवल चार श्लोक कहे थे, अतः शेष १७,९९४ श्लोक व्यर्थ हैं। इन दस लक्षणों की समुचित व्याख्या के लिए जैसाकि अगले अध्याय में बताया जाएगा, न जाने कितने श्लोकों की आवश्यकता होगी। ब्रह्मा ने नारद को पहले यह भी सलाह दी थी कि उन्होंने जो उपदेश दिया है उसका वे विस्तार करें। श्री चैतन्य महाप्रभु ने श्रील रूप गोस्वामी को संक्षेप में इसका उपदेश दिया, किन्तु शिष्य रूप गोस्वामी ने इसको अत्यधिक विस्तार दिया। इसके बाद इसी विषय को जीव गोस्वामी ने और फिर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने विस्तार दिया। हम इन्हीं अधिकारियों के पदचिह्नों पर चलने का प्रयास कर रहे हैं। अतः श्रीमद्भागवत न तो कोई साधारण उपन्यास है, न ही संसारी साहित्य। इसकी शक्ति अपार है, इसे अपनी बुद्धि के अनुसार चाहे जितना बढ़ाया जा सकता है। इससे भागवत का अन्त नहीं होगा। श्रीमद्भागवत भगवान् की वाणी का प्रतिनिधित्व करता है, अतः इसे चाहे चार श्लोकों में कहा जाय या चार अरब श्लोकों में, यह एक जैसा है ठीक वैसे ही जैसे भगवान् अणु से भी सूक्ष्म और अनन्त आकाश से भी विस्तृत हैं। श्रीमद्भागवत की शक्ति ऐसी ही है।

नारदः प्राह मुनये सरस्वत्यास्तटे नृप ।

ध्यायते ब्रह्म परमं व्यासायामित-तेजसे ॥ ४५ ॥

### शब्दार्थ

नारदः—नारद मुनि ने; प्राह—उपदेश दिया; मुनये—मुनि को; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी के; तटे—तट पर; नृप—हे राजन; ध्यायते—ध्यानमग्न; ब्रह्म—परम सत्य; परमम्—परमेश्वर; व्यासाय—श्रील व्यासदेव के लिए; अमित—अपार; तेजसे—शक्तिमान को।

हे राजन्, उसी परम्परा में नारद मुनि ने श्रीमद्भागवत का उपदेश अनन्त शक्तिमान उन व्यासदेव को दिया जो सरस्वती नदी के तट पर भक्ति में स्थित होकर परम सत्य, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का ध्यान कर रहे थे।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के पाँचवें अध्याय में नारद ने व्यासदेव को निम्नलिखित उपदेश दिया है—

*अथो महाभाग भवान् अमोघहृक्*

*शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः ।*

*उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये*

*समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥*

“हे महाभाग्यशाली पवित्र विद्वान्! तुम्हारा नाम तथा यश विश्वव्यापी है और तुम अपने निष्कलंक चरित्र तथा अच्युत दृष्टि से परम सत्य में स्थित हो। मैं तुम्हें भगवान् की अतुलनीय लीलाओं का ध्यान करने को कहता हूँ।”

इस प्रकार ब्रह्मसम्प्रदाय की शिष्य-परम्परा में योग ध्यान के अभ्यास की उपेक्षा नहीं की जाती। लेकिन भक्तियोगी होने के कारण भक्त निर्गुण ब्रह्म का ध्यान नहीं धरते। वे तो जैसा यहाँ इंगित किया गया है, परम ब्रह्म (ब्रह्म परमम्) का ध्यान करते हैं। ब्रह्म साक्षात्कार ब्रह्मज्योति से प्रारम्भ होता है और अधिक ध्यान करने से परमात्मा का प्राकट्य होता है। अधिक आगे बढ़ने पर भगवान् का साक्षात्कार स्थिर हो जाता है। श्रीनारद मुनि, व्यासदेव के गुरु होने के नाते, व्यासदेव की स्थिति से अवगत थे, अतः उन्होंने प्रमाणित किया कि श्रील व्यासदेव भगवान् की लीलाओं के ध्यान में पूर्ण निष्ठा से स्थित हैं। नारद ने भगवान् की दिव्य लीलाओं का ध्यान करने का उपदेश दिया। निर्विशेष ब्रह्म की कोई लीला नहीं होती, किन्तु सगुण ब्रह्म की लीलाएँ अनेक हैं और ये सारी लीलाएँ दिव्य होती हैं और इनमें भौतिक गुणों का स्पर्श तक नहीं होता। यदि परब्रह्म की लीलाएँ भौतिक होतीं तो नारद ने



कभी भी व्यासदेव को उनका ध्यान करने का उपदेश न दिया होता। परमब्रह्म तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है। *भगवद्गीता* के दशम अध्याय में अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण की वास्तविक स्थिति का बोध हुआ तो उन्होंने श्रीकृष्ण को सम्बोधित करते हुए निम्नलिखित शब्द कहे ( *भगवद्गीता* १०.१२-१३) ।

*परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।*

*पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥*

*आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिनरिदस्तथा ।*

*असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥*

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन करके *भगवद्गीता* के उद्देश्य का सार संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा, “हे प्रभो! आप परम ब्रह्म, परम धाम, पावन परम सत्य और सनातन दिव्य पुरुष हैं। आप चिन्मय आदि देव हैं। नारद, असित, देवल, व्यास आदि सारे ऋषि इसकी पुष्टि करते हैं और आप स्वयं मुझसे इसकी पुष्टि कर रहे हैं।”

जब व्यासदेव ने अपना मन ध्यान में स्थित किया, तो उन्होंने भक्तियोग समाधि में किया और परम पुरुष का माया सहित साक्षात् दर्शन किया। जैसाकि पहले कहा जा चुका है भगवान् की माया भी एक प्रतिरूप है, क्योंकि माया का भगवान् के बिना कोई अस्तित्व नहीं होता। अन्धकार प्रकाश से स्वतंत्र नहीं होता। बिना प्रकाश के अन्धकार का अनुभव नहीं हो पाता। किन्तु यह माया भगवान् से पार नहीं पा सकती, यह उनसे दूर ( *अपाश्रयम्*) खड़ी रहती है।

अतः ध्यान की सिद्धि भगवान् की दिव्य लीलाओं समेत भगवान् का साक्षात्कार (बोध) है। निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान ध्यानकर्ता के लिए कष्टकारक होता है जैसाकि *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है— *क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।*

**यदुताहं त्वया पृष्टो वैराजात् पुरुषादिदम् ।**

**यथासीत्तदुपाख्यास्ते प्रश्नानन्यांश्च कृत्स्नशः ॥ ४६ ॥**

**शब्दार्थ**

यत्—जो; उत—हैं; अहम्—मैं; त्वया—तुम्हारे द्वारा; पृष्ठः—पूछा जाकर; वैराजात्—विराट रूप; पुरुषात्—भगवान् से; इदम्—यह जगत; यथा—जिस प्रकार; आसीत्—था; तत्—वह; उपाख्यास्ते—मैं कहूँगा; प्रश्नान्—समस्त प्रश्न; अन्यान्—अन्य; च—भी; कृत्स्नशः—विस्तार से।

हे राजन्, तुम्हारे इस प्रश्न का कि यह ब्रह्माण्ड भगवान् के विराट रूप से किस प्रकार प्रकट हुआ तथा अन्य प्रश्नों का उत्तर मैं पूर्वोक्त चारों श्लोकों की व्याख्या के रूप में विस्तारपूर्वक दूँगा।

तात्पर्य : जैसाकि श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में कहा गया है यह महान् दिव्य साहित्य वैदिक ज्ञान रूपी वृक्ष का पक्व फल है, अतः सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर विश्व से सम्बन्धित जितने भी प्रश्न हो सकते हैं उन सबका उत्तर श्रीमद्भागवत में दिया गया है। ये उत्तर व्याख्या करने वाले व्यक्ति की योग्यता पर निर्भर करते हैं। जैसाकि परम वक्ता श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा है श्रीमद्भागवत के दस विभागों में सारे प्रश्न समाहित हो जाते हैं और बुद्धिमान पुरुष उनका उचित उपयोग करके समुचित लाभ उठा सकेंगे।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत “श्रीभगवान् के वचन का उद्धरण देते हुए प्रश्नों के उत्तर” नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।